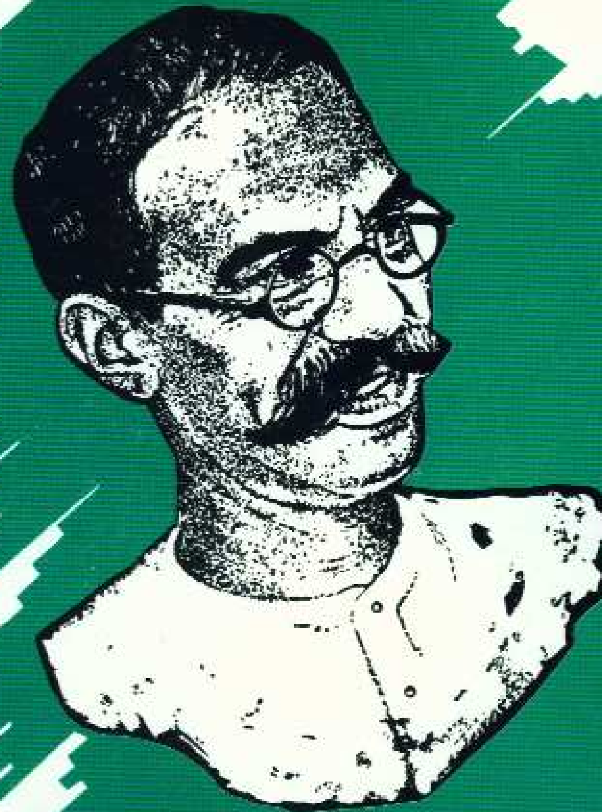
गिजुभाई ग्रंथमाला-15



प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा

भाग-2

गिजुभाई

प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा

(द्वितीय भाग)

लेखक

गिजुभाई

अनुवाद

रामनरेश सोनी

मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति,

राजलदेसर (चूरू) 331802

© विमलाबहन बधेका
दक्षिणामूर्ति-बालमन्दिर
भावनगर 364002 (गुजरात)

प्रकाशक :
मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति
राजलदेसर (चूरू)

प्रकाशन-वर्ष : 2009 ई.

प्रतियां : 1,100

मूल्य : चौबीस रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोंटेसरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 2000 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोंटेसरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता-पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना ज़रूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष

का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने काम में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव-प्राय हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

—कुन्दन बैद

मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति
राजलदेसर 331802

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हल्का ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुःखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनःप्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं कि परम मंगलमय प्रभु की परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्दः तुभ्यमेव समर्पयेत् !**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई ढाई हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित

करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें (गिजुभाई ग्रन्थमाला 2, 3, 4, 5) माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। बाकी ग्यारह पुस्तकों (गिजुभाई ग्रन्थमाला 1 तथा 6 से 17) में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है।

1. दिवास्वप्न
2. माता-पिता से
3. माता-पिता के प्रश्न
4. माँ-बाप बनना कठिन है
5. माँ-बापों की माथापच्ची
6. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
7. शिक्षक हों तो
8. बाल-शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया
9. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियाँ
10. प्राथमिक शाला में शिक्षक
11. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
12. मोंटेसरी-पद्धति, भाग-1
13. मोंटेसरी-पद्धति, भाग-2
14. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग-1
15. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग-2
16. कथा-कहानी का शास्त्र
17. चलते-फिरते

इनमें 'मोंटेसरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएँ, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 से क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई ग्रंथमाला का भरपूर स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई ग्रंथमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हल्का हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों (2 पुस्तकों के 2-2 खण्ड सहित कुल 17 पुस्तकों) के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा ख़र्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही ख़ाद-पानी से फूलती-फलती है!

—काशिनाथ त्रिवेदी

गाँव-पीपल्याराव
इन्दौर 452001

प्रवेशक

'प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा' शीर्षक पुस्तक का यह द्वितीय भाग है। इसमें कारीगरी के बारे में विचार व्यक्त किए गए हैं। इसके भी दो विभाग हैं : एक कारीगरी का, दूसरा वातावरण का। प्रत्येक कला में जो टेक्नीक अर्थात् कारीगरी का ज्ञान जरूरी होता है, उस अर्थ में ही मैंने यहाँ कारीगरी शब्द को प्रयुक्त किया है। जिस ज्ञान के द्वारा आदमी कारीगर बनता है अर्थात् हुनरमंद बनता है, उस ज्ञान को मैंने यहाँ कारीगरी नहीं कहा है वरन कारीगरी के विषय अर्थात् मूलभूत कलाओं के अवलंब से उत्पन्न कलाओं के अर्थ में कहा है। पाठकगण कृपया इसी अर्थ में ग्रहण करें।

पुस्तक का दूसरा विभाग वातावरण है। कला-सर्जन का हेतु, कला-सर्जन का वातावरण, उस सर्जन की पद्धति तथा साधन : ये सब बातें अलग-अलग हैं। वातावरण तो सर्जन की तैयारी के निमित्त पोषक होता है, बल्कि कहें कि सर्जन की सफलता के निमित्त एक जरूरी सहायक होता है। इसी से इसे कला की पुस्तक में स्थान दिया गया है।

'शिक्षण में चर्खे का स्थान' शीर्षक प्रथम प्रकरण पढ़ते ही कई पाठक गहरे विचार में पड़ जाएंगे। मेरा उनसे अनुरोध है कि इस पूरे प्रकरण को पढ़ने के बाद ही वे यह निर्णय लें कि चर्खे का शिक्षण में स्थान है अथवा नहीं। चर्खे को मैंने यहाँ आर्थिक या राजनीतिक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है वरन जिस तरह सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, मिट्टी का काम आदि कला-कारीगरी की वस्तुओं को विद्यालय में स्थान दिया गया है, वैसे ही इसका भी स्थान है, यह बात प्रयोग-सिद्ध है अतः स्थान दिया है। शिक्षण के साधन आज अथवा कल के लिए ही नहीं होते। अगर चर्खा शिक्षण का एक साधन प्रमाणित होता है तो इसको भी उनकी ही भाँति ग्रहण करना चाहिए। चर्खा रूपी खिलौना कला-कारीगरी का साधन नहीं बन सकता। सूत कतवाने की दृष्टि से अगर इसे विद्यालय में दाखिल करेंगे तो बालकों की शक्तियों का उपयोग कर पाने में दुर्बल प्रमाणित होगा। जबकि चर्खे में क्रिया-शक्ति, बौद्धिक-शक्ति एवं कल्पना-शक्ति के विकास की इतनी सहजता है कि इनके कारण चर्खे की शैक्षिक मूल्यवत्ता कई गुणा बढ़ जाती है।

सर्जन शांति और स्वास्थ्य में निहित है, अर्थात् शांति सर्जन की श्वासोच्छ्वास है। यहाँ शांति फकत बाहरी ही नहीं, भीतरी भी समझनी चाहिए। अतः विद्यालय में बाहरी शांति का प्रबंध करने के साथ-साथ इसके लिए भी वातावरण निर्मित करना अनिवार्य है कि बालक के हृदय में शांति कैसे जाग्रत हो। 'शांति का खेल' इस तरह का वातावरण देने के मार्ग में एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक तत्त्व है। अगर प्रत्येक विद्यालय समझदारी के साथ ऐसा वातावरण रचेगा, तो सहज ही रच सकेगा, क्योंकि वातावरण के लिए दृष्टि की जरूरत है, वित्त की नहीं।

मिट्टी का काम और कागज-कैंची का काम आदि अगर बालक करते हैं तो इनमें इनका शिक्षण निहित है, पर अगर ऐसा आग्रह रखा जाएगा कि वे पूरा काम करें, अभ्यासक्रम के अनुसार करें, तो परिणाम उल्टा हो सकता है। वस्तुतः हमें बालकों को महज साधन उपलब्ध कराना है। वे अपने आप जो कुछ करना चाहें, उन्हें करने दें। इन तमाम बातों में उन्हें अभ्यासक्रम, शिक्षण, परीक्षण और परिणाम से मुक्त रखें।

वस्तुतः सर्जन उसी को कहा जाएगा जो इन तमाम से हमेशा परे रहा हो, और जिसे परे रहने दिया गया हो।

29-6-34

—गिजुभाई

अनुक्रमणिका

पहला प्रकरण

शिक्षण में चर्खे का स्थान

बाल मंदिर में अवलोकनार्थ आने वाले एक सज्जन से जब यह कहा गया कि नीचे वाले तहखाने में कताई-बुनाई का काम चल रहा है, क्या आप देखना चाहेंगे? तो आश्चर्य से सामने देखते हुए उन्होंने पूछा : क्या इतने छोटे बच्चे भी कताई करना सीख जाते हैं?

बुनाईशाला में जाकर उन्होंने देखा कि भगवानलाल घुटनों के बल बैठा सरर-सरर सपाटे के साथ कताई कर रहा है। कताई में वह इस कदर लीन है कि कोई भी उसके ध्यान को भंग नहीं कर सकता। तलघर में कौन आता है, कौन जाता है, कौन क्या करता है और कौन क्या कहता है, भगवानलाल को इन बातों की रत्ती भर परवाह नहीं, बल्कि उसे इन बातों का पता भी नहीं! बड़ी देर तक कताई का काम करने के बाद भगवानलाल उठा, तहखाने में एक चक्कर लगाया, मस्ती की लहर में खाली पड़े चर्खों को जोर से चलाते हुए वह आनंद मगन हँसता-मुस्कराता तहखाने से बाहर चला गया।

प्रेक्षक के मन में भगवानलाल के बारे में यह राय थी कि बड़ा जोरदार बच्चा है। चर्खे से उसे गहरा लगाव है। चर्खा चलाते-चलाते जब तक वह अपनी पूरी ताकत काम में न ले ले, तब तक उसे चैन नहीं मिलता। अवलोकनकर्ता की दृष्टि में आने वाला यह एक दृश्य है।

तहखाने के दूसरे सिरे पर इन्दुमती बैठी है। वह भी एकाग्रता के साथ चर्खा चला रही है। उसकी नजर चर्खे से निकलने वाले धागे पर है। आबाद से उसकी अच्छी मित्रता है। दोनों ही इस बात का बहुत ध्यान रखती हैं कि धागा बारीक निकले, उसमें गाँठें न रहें। इनके चर्खे जोर से नहीं चलते, न ही इनके तकुओं पर ज्यादा सूत दिखाई देता। थोड़ा-सा जो धागा सेव की तरह आहिस्ता-आहिस्ता पूनी से निकल रहा है, वह सुंदर है। न मालूम इस सुंदरता के लिए ही दोनों बालिकाएँ चर्खों की साधना न कर रही हों! दोनों में से किसी के भी दिमाग में ये सवाल नहीं आते कि चर्खे का तकुआ मोटा क्यों है पतला क्यों नहीं,

यह चमरखी ऐसी क्यों है वैसी क्यों नहीं, चर्खे की माल को ऐसे क्यों रखा गया है वैसे क्यों नहीं, इसका क्या कारण है, उसकी क्या वजह है, आदि-आदि! इन्हें तो बस काला तकुआ पसंद नहीं, अगर सूत मैला हो गया है तो तोड़ डालना अच्छा लगता है, धागा अच्छा नहीं निकला तो उसे फेंक देना अच्छा लगता है, अगर फिरकी खराब हो गई है तो उसे बदल देना अच्छा लगता है।

प्रेक्षक को लगा कि ये दोनों बालिकाएँ भगवानलाल से अलग तरह की हैं। ये दोनों भगवानलाल की तरह अपनी ताकत को बहा देने के लिए नहीं आतीं, न इन्हें चर्खे के बारे में बहुत-बहुत जानकारी की इच्छा, इन्हें तो बस यही पसंद है कि सूत भले ही मात्रा में कम हो, पर वह हो बारीक।

स्वभाव-भेद के ऐसे दर्शन से प्रेक्षक का मन हुआ कि तलघर में खड़े रहकर बच्चों की गतिविधियों का और अवलोकन किया जाए। उसने देखा कि तलघर के बीचोंबीच सतीशचंद्र बैठा है। सतीश बहुत कोशिश कर रहा है कि सूत का धागा निकले। उसके चेहरे पर निश्चय का असाधारण बल है। उसकी आँखें, उसके हाथ, उसका मन, उसकी सम्पूर्ण मुद्रा इसी प्रयास में लगी है कि धागा निकले। थोड़ा-सा धागा निकला नहीं कि उसकी आँखें चमक उठीं, पर ज्यों ही धागा टूटा, कि पूनी हाथ में ही ठिठक गई, चर्खे की फिरकी बंद हो गई और चेहरे पर विषाद की रेखाएँ उभर आईं। लेकिन तभी दृढ़ निश्चय और भगीरथ प्रयत्न की किरणों से उसका चेहरा पुनः चमक उठा। आखिरकार सतीशचंद्र धागा निकालने में सफल हो गया। वह कातने लगा और कातते-कातते अंत में अपने काते हुए सूत की माला गले में डालकर रणछोड़लालजी के पास इजाजत लेने गया कि वह अपना काम दोस्तों को दिखा देना चाहता है।

प्रेक्षक आश्चर्यचकित है। मन ही मन कहता है : यह कैसा प्राणबल? यह कैसा शौक? भला यह कैसी क्षुधा? यह कैसा आकर्षण? क्या यह चर्खे का जादू है अथवा मनुष्य का चर्खे से इतना ज्यादा कुदरती मोह है?

तभी पथू आता है और रणछोड़लालजी से कहता है : 'गिजुभाई ने कहलाया है कि मुझे भी कातने दें! लीजिए यह चिट्ठी।' रणछोड़जी पथू को चर्खा सौंप देते हैं। पथू कहता है : 'यह तो बहुत बड़ा चर्खा है। इसे लेकर मैं सही ढंग से बैठ भी नहीं सकता। न मेरे हाथ पहुँच पाते!'

रणछोड़जी ने कहा : 'पथू भैया, चर्खा तो ऐसा ही है। कातने का तुम्हारा मन हो तो कातो, नहीं तो छोड़ दो।' उत्तर में पथू बोला : 'जी नहीं, मैं तो कातना ही चाहता हूँ।' हाथ में पूनी लेकर वह कातने बैठता है, पर धागा नहीं निकलता।

पथू बोला : 'रणछोड़ भाई! धागा तो निकलता ही नहीं, टूट जाता है।' रणछोड़जी उसे धागा निकालना सिखाते हैं। पथू धागा निकालने में जुट गया, पर कितनी ही कोशिशों के बावजूद उससे धागा नहीं निकला। बस वह 'सूत नहीं निकलता, सूत नहीं निकलता' कहता हुआ रो पड़ा। उसे देखकर दूसरे लड़के हँस दिये, इस पर पथू जोर-जोर से रोने लगा। सिसकियाँ भरता हुआ वह ऊपर गिजुभाई के पास जाकर बोला : 'मुझे सूत कातना नहीं आता। मुझसे धागा नहीं बनता।'

पथू की व्यथा-कथा को जानने के लिए प्रेक्षक अगले दिन फिर आया। देखा, कि पथू एक-सरीखा धागा निकालने में तल्लीन है। पथू की खुशी का पार न था। वह गिजुभाई के पास जाकर बोला : 'गिजुभाई! आज मैंने इतना लंबा धागा बनाया, इतना लंबा!' उस समय उसके चेहरे पर जो भाव थे, उनका वर्णन कर पाना बहुत मुश्किल है। आनंद से उत्फुल्लित उसके साँवले-गुलाबी गालों का अप्रतिम सौंदर्य भला कौन चितेरा सफलतापूर्वक चित्रित कर सकता था?

प्रक्षेक और गिजुभाई दोनों सोच में डूब गए कि पाँच बरस के इस पथू को भला ऐसी क्या चोट लगी? इस तुच्छ-से धागे के सृजन में इस बालक को कैसी अद्‌भुतता, सम्पूर्णता, सुंदरता अथवा नवीनता हाथ लगी?

प्रेक्षक अब भी तलघर में खड़ा दृश्य देख रहा है। उसका कुतूहल बढ़ गया है। उसका ध्यान कांतिलाल की ओर जाता है। कांतिलाल गा रहा है और कात भी रहा है। उसका ध्यान सूत पर तो है ही, उससे भी ज्यादा इस पर भी है कि चर्खा किस तरह चल रहा है। वह चर्खे के एक-एक हिस्से को गौर से देखता है। सूत पर बंट बराबर लगा है या नहीं, यह जानने के लिए वह सूत को तोड़कर देखता है और अपना भरोसा पक्का करता है। कातते समय तकुआ कहीं अड़ता है तो उससे एक तरह की आवाज आती है। कांतिलाल पता लगाता है और जब कारण जान लेता है तो बहुत खुश होता है। इसी भाँति जब कभी सूत कातते-कातते धागा टूट जाता है

तो वह कारण जानने की कोशिश किया करता है। वह कई तरह के प्रयोग आजमा कर देखता है कि चर्खे की माल तंग होती है तो उसका तकुए पर क्या असर होता है। कांतिलाल की यह प्रयोगशीलता प्रेक्षक की नजरों से छिपी नहीं रहती। वह मन ही मन कह उठता है : 'यह बालक तो खोजी लगता है।'

प्रेक्षक तलघर से बाहर जाने को था कि तभी उसकी नजर मूलचंद पर पड़ी। मूलचंद चर्खे की माल बनाकर यह देखने में लगा था कि वह कितनी लम्बी है। कते हुए सूत को कागज के लिफाफे में डालकर उस पर तारीख लिखते समय मूलचंद रणछोड़ भाई से बोला कि श्यामपट पर लिखी तारीख गलत है। इस हकीकत ने चतुर प्रेक्षक के मन में एक सवाल पैदा किया : 'क्या मूलचंद चर्खे के साथ गणित विषय को भी जोड़ रहा था ?'

जाते-जाते प्रेक्षक बाल-मंदिर के प्रधानाध्यापक से मिला और कई प्रश्न पूछे। दोनों के बीच कुछ इस तरह बातचीत हुई :

'इन बच्चों को रोजाना कितने समय तक कातना होता है ?'

'समय-विभागचक्र जैसा कुछ भी निर्धारित नहीं है। जो जितनी देर कातना चाहे, काते।'

'पर ऐसा नियम तो होगा न, कि इन्हें थोड़े समय तक कताई करनी ही होगी ?'

'जी नहीं, ऐसा भी नियम नहीं है। जिस बालक का मन होता है, वह आठ-आठ दिनों तक दूसरा काम छोड़कर सिर्फ कताई ही करता है और जिसका मन नहीं होता वह तहखाने की तरफ फटकता ही नहीं। कोई बालक दिन में थोड़ा-थोड़ा करके दो-चार बार कताई करने बैठ जाता है तो किसी दिन वह जी भर कर कातता है और फिर दो-तीन दिन कहीं और चक्कर लगाता है या बाल-मंदिर की दूसरी प्रवृत्तियों में लग जाता है।'

'लेकिन अगर सभी बच्चे कताई में न आएँ तो ?'

'तो कताई का काम अपने आप बंद पड़ा रहेगा।'

'बंद पड़ा रहेगा तो फिर राष्ट्रीय विद्यालयों में कताई की अनिवार्यता के सवाल को लेकर क्या होगा ?'

'जब बालकों को कताई का काम पसंद ही नहीं है तो इस काम को शैक्षिक योजना में शामिल करने का विचार छोड़ देना चाहिए।'

'अगर बच्चों को डरा-धमका कर या लोभ-लालच देकर कताई का काम कराएँ तो ?'

'धमकी या प्रलोभन से बालक कातेगा जरूर पर शैक्षिक दृष्टि से उसे लाभ नहीं होगा।'

'क्या मतलब ?'

'मतलब यही कि अगर बालक कातना सीखता है या कातता है तो बालक को कोई शैक्षिक लाभ मिलेगा, ऐसा कुछ नहीं होगा। वस्तुतः शिक्षाशास्त्र की ऐसी मान्यता है कि जब बालक स्वेच्छा से कोई काम करता है तो उस काम को करते-करते उसकी अमुक-अमुक शक्तियों की भूख तृप्त होती है। इस तृप्ति में, इस स्वाभाविक इच्छा की तुष्टि में ही बालक की शिक्षा निहित रहती है।'

'तो ये बालक अपनी इच्छा से कताई करते हैं ? पर यह तो बताइए कि अपनी किन-किन शक्तियों और वृत्तियों के विकास के लिए ये कताई करते हैं ? अर्थात् बिना शैक्षिक प्रलोभन, अनिवार्यता अथवा किसी अन्य उत्तेजन के बगैर ये बालक इतने लंबे समय तक कताई क्यों करते हैं ? क्या वजह है कि जब तक तकुए से धागा नहीं निकला, तब तक पथू रोता रहा ? उसे ऐसी क्या भूख थी ?'

'इस सवाल का उत्तर तो मैं स्वयं खोज रहा हूँ और बालकों से इसका उत्तर जानना चाहता हूँ।'

'अच्छी बात है, जब आपको उत्तर मिल जाए तो मुझे जरूर बताएँ। मैं फिर आऊँगा।'

प्रेक्षक तो चला गया लेकिन प्रधानाध्यापक के समक्ष कुछ प्रश्न खड़े कर गया कि बालक कताई का काम क्यों करता है ? क्यों वह एक ही क्रिया के पुनरावर्तन में आनंद लेता है ? क्यों वह खुशी के मारे कातते-कातते गीत गाता है ? अपनी किन शक्तियों और वृत्तियों के विकास के लिए वह कताई करता है, आदि-आदि ?

एक नियम है कि बालक स्वभाव से ही अपना स्वयंभू विकास साधने वाला प्राणी है। दूसरा नियम यह है कि अपने भीतर छिपी हुई शक्तियों को विकसित करना उसकी कुदरती वृत्ति होती है। तीसरा नियम है कि बालक में अपने सुसंगत आंतरिक विकास के लिए वांछित आवश्यक साधनों पर विजय प्राप्त करने का रुझान कुदरती रीति से होता है।

इन तीनों नियमों के आधार पर कहा जा सकता है कि बालक में कोई ऐसी चीज विद्यमान होती है कि जिससे वह अपने विकास की दिशा को समझ सकता है, विकास के साधन को विकास के निमित्त उपयोग में ला सकता है और स्वयमेव अपना विकास कर सकता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि बालक बिना बताए, बिना सिखाए, बिना प्रलोभन या प्रशंसा किए जो कुछ सीखना या जानना चाहता है, वह सब कुछ सीखने या जानने में समर्थ है। सीखने-जानने की इच्छा उसके अपने भीतर से आती है और उस इच्छा को तृप्त करने के निमित्त जो साधन होते हैं, उनका उपयोग वह स्वयमेव कर लेता है; यही नहीं अपितु जो साधन उसके अपने विकास के निमित्त आवश्यक होते हैं, उन साधनों को वह स्वयं ढूँढ़ लेता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि अपनी स्वयंभू वृत्ति से आवश्यक ऐसे विकास के अनिवार्य साधनों को ढूँढ़ने वाले बालक के चारों ओर के वातावरण में उसके विकास के निमित्त ऐसे अनुकूल साधन—सही साधन विद्यमान होने जरूरी हैं। ऐसे साधनों के अस्तित्व पर ही बालक का स्वयंभू विकास निर्भर करेगा। अगर बालक को ये साधन नहीं मिलेंगे तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाएगा। अतः बालक के स्वतंत्र और स्वयंभू विकास का परम रहस्य इस बात में निहित है कि बालक की आंतरिक भूख और पोषण के निमित्त जरूरी और सही लगने वाले साधनों की सुविधा उपलब्ध कराई जाए। पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम बालक को हमारी पसंद के साधन देकर उसके विकास में मददगार बन जाएँ। साधनों की तलाश हम नहीं कर सकते। यह काम तो बालक ही करेगा। पर हमें बालक के विकास का पोषण करने की भावना से उसके सामने तरह-तरह के साधन अवश्य रखने चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि बालक अपने किस तरह के विकास के लिए किस तरह के साधन काम में लेता है। हमें बालक के विकास को क्षति पहुँचाने

की बजाय ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए कि जो उसके विकास की पोषक हो। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने से ही बालक अपने विकास में साधन-स्वरूप सिद्ध होने वाली वस्तु को स्वीकार करता है और अन्य वस्तुओं का बहिष्कार करता है। इससे हम जान जाते हैं कि कौनसी वस्तु बालक के लिए पोषक रही है और कौनसी नहीं रही। जिस साधन का उपयोग करने में बालक तल्लीन हो जाता है, जिस साधन का उपयोग वह बार-बार करना चाहता है, वही साधन उसकी आंतरिक जरूरत से सम्बद्ध होता है और वही उसकी आंतरिक भूख को मिटाता है। हमें बालक से यह पूछने की जरूरत नहीं पड़ती कि कौनसा साधन उसके विकास का पोषक है, वरन् हमारे मना करने पर भी बालक जिस वस्तु की माँग करता है, उसे लेने को वह लपकता है, उसे पाकर खुशी प्रकट करता है, उसे बार-बार काम में लेता है और यों करते-करते वह उसमें एकाग्र हो जाता है तो समझ लेना चाहिए कि वही वस्तु उसके विकास का सही साधन है, इसमें शक नहीं।

साधन तो बाहरी उत्तेजक होता है। अगर यह उत्तेजक बालक के भीतरी तार को छूकर संगीत की झनकार पैदा नहीं करता, अथवा उसके भीतरी तार को छूकर बिजली की कौंध पैदा नहीं करता तो वह खरा उत्तेजक नहीं है, खोटा है। उसे वहीं छोड़ देना पड़ेगा, सोचने की बात है कि क्यों पैदा होता है यह संगीत ? यह विद्युत ? इस प्रश्न का उत्तर हम समझ सकते हैं। हमें तो बस इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जब बालक को ऐसा साधन मिल जाता है, जिससे उसकी क्षुधा तृप्त हो जाए, तो फिर वह अपने व्यक्तित्व के निर्माण में लग जाता है और साथ ही साथ वह अपने आंतरिक स्वभाव को, वृत्तियों को तथा पसंद-नापसंद को प्रकट करने लगता है। इस दृष्टि से देखें तो साधन वृत्तियों को उत्पन्न करने वाली चीज नहीं अपितु पोषण देने वाली चीज है; वह पसंदगी के नियम रचने वाली वस्तु नहीं अपितु पसंद-नापसंद का मापक-यंत्र है; वह बालक के आंतरिक स्वभाव को निर्मित करने वाला कारक नहीं अपितु बाहर लाने वाला तत्त्व है। ऐसे साधनों को बालक उसी परिस्थिति में ढूँढ़ सकते हैं, जहाँ स्व-शिक्षण देने वाले साधन मौजूद हों और जो जैसे-तैसे बटोरे हुए न हों अपितु कई-कई प्रयोगों के बाद आजमाकर देखे हुए हों। बालक को अपने चारों ओर के वातावरण में साधन ढूँढ़ निकालने की पूर्ण स्वतंत्रता होना एक अनिवार्य शर्त है।

अब इन नियमों को लक्ष्य में रखते हुए जरा देखें तो सही कि क्या चर्खा बालक के विकास का एक साधन है अथवा नहीं? यहाँ हमें यह भी देखना है कि अपने विकास के निमित्त वांछित साधन उपलब्ध होने पर किसी बालक पर उसका जो असर होना चाहिए, क्या वह चर्खा उपलब्ध होने पर होता है अथवा नहीं?

यदि बालकों के लिए कताई का विषय अनिवार्य हो और इस वजह से भले ही वे कम या अधिक समय तक मजे से कताई का काम करते हों, तब भी यह बात स्वीकार करनी होगी कि चर्खा उनके विकास का साधन नहीं है। पर यहाँ बालमंदिर में तो बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता थी कि मन हो तो कताई करें, मन न हो तो कताई न करें, अतः कहना न होगा कि यहाँ पर चर्खे की प्रवृत्ति बालकों के विकास का साधन बनने योग्य है। बच्चे स्वेच्छा से चर्खा माँगते हैं और कताई सीखने के लिए कड़ी मेहनत करते हैं। कताई सीख लेने के बाद भी बालकों के मन को चैन नहीं मिलता। बार-बार कातने का मजा लेने के लिए वे कई-कई दिनों तक बराबर तलघर में बैठकर कातते ही रहते हैं, रुकते भी नहीं। दिन प्रतिदिन उनका ध्यान क्रमशः बढ़िया धागा कातने, तेजी से कातने और ज्यादा मात्रा में कातने की तरफ बढ़ता जाता है।

इसके अलावा चर्खे की प्रवृत्ति के कारण भगवानलाल की एक तरह की वृत्ति सामने आई, कांतिलाल का एक भिन्न तरह का रुझान सामने आया, तो इन्दुमती और आबाद नामक बालिकाओं की तीसरी ही वृत्ति प्रकाश में आई। निश्चय ही चर्खे में यह गुण है कि यह बालकों में विद्यमान अलग-अलग वृत्तियों को बाहर लाता है—हमारे समक्ष प्रकट कर देता है। डॉ. मोंटेसरी के नियम के अनुसार चर्खा एक ऐसा साधन है जो स्वयमेव सीखने में मदद देता है। चर्खे का ज्ञान न भाषण का विषय है, न नकल का। किसी भी साधन का एक बार उपयोग करना जान लेने के बाद उसके उपयोग को सिद्ध करने के लिए जब-जब बालक प्रयत्न करने लगते हैं तथा प्रयत्न एवं अनुभव से उस साधन के सही एवं सम्पूर्ण उपयोग तक पहुँच जाते हैं तो वह साधन अपने आप बालकों को शिक्षण देने लगता है, यह बात हमें स्वीकार लेनी चाहिए। इस नाते कहना चाहिए कि चर्खा उक्त प्रकार का साधन है। रणछोड़लालजी ने बालकों को इतना भर ही तो बताया कि चर्खा कैसे चलाया जाता है; पर एक हाथ से चक्कर घुमाना, दूसरे हाथ से पूनी पकड़ना, फिर धागा निकालना

और धागे को बंट देना आदि काम तो बालकों को ही करने थे। इन कामों में होने वाली त्रुटियाँ कैसे सुधारनी चाहिए, ये बातें एक बार जान लेने के बाद उन्हें अभ्यास और पुनरावर्तन के द्वारा बालकों को अपने आप सिद्ध करनी पड़ती हैं।

इतनी चर्चा के बाद ऐसा लगेगा कि कताई करने वाले बच्चे बिना किसी प्रयोजन यह प्रवृत्ति नहीं करते। चर्खे में अवश्य ही ऐसा कुछ होना चाहिए जो उनकी विकास की वृत्ति के लिए आकर्षण अथवा उत्तेजन स्वरूप है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि चर्खा तो जिन्हें आर्थिक कमाई करनी हो, उसके निमित्त है, उनके विचार कितने अविश्वसनीय हैं, यह बात समझ में आने जैसी है। लेकिन मात्र स्वेच्छा से बच्चे चर्खा चलाना चाहते हैं तथा सूत कातना चाहते हैं, इसे लेकर कई लोग इस बात से इनकार करते हैं कि शिक्षा की दृष्टि से चर्खा कातना उपयोगी है अथवा चर्खे की कोई शैक्षिक उपादेयता भी है। ये लोग कताई-शिक्षण की मूल्यवत्ता जानना चाहते हैं।

वस्तुतः शैक्षिक मूल्यवत्ता का आरोपण उस वस्तु पर किया जाता है, जिससे व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, कला-विषयक, रसिकता-विषयक, नैतिक अथवा आत्मिक शक्ति का विकास होता है। उपरिलिखित विचारों के अनुसार सोचें तो उक्त सिद्धांत को यों व्यक्त कर सकते हैं—जिस वस्तु के द्वारा मनुष्य की कोई न कोई शारीरिक, मानसिक, कला-विषयक, रसिकता-विषयक, नैतिक अथवा आत्मिक शक्ति प्रकट होती है तथा जिसे बारबार उपयोग में लाने से ये शक्तियाँ विकसित होती हैं, उस वस्तु में शिक्षण-विषयक मूल्यवत्ता का आरोपण करना उचित लगता है। किसी भी साधन द्वारा किसी भी वृत्ति को प्रकट करने का साधन वह है जो आंतरिक वृत्ति को उत्तेजक के रूप में प्रभावित करता है। साधन की उत्तेजक के बतौर प्रभावित करने की शक्ति में ही असली मूल्यवत्ता समाहित रहती है। उत्तेजन के परिणामस्वरूप शक्तियों का विकास तो स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। अतः कताई के काम से मनुष्य को अमुक-अमुक लाभ होते हैं, कताई का काम एक कला है, कताई का काम मनुष्य की स्थूल जरूरतों का आर्थिक हल है—यों कहने से चर्खे की शैक्षिक मूल्यवत्ता जाहिर नहीं होती। अतः प्राचीन पुस्तकों या लेखकों के उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का हमारा प्रयत्न नहीं होना चाहिए कि चर्खे की शैक्षिक महत्ता है।

पूर्व और पश्चिम के कई लेखक बुनाई के समग्र कार्य को कला की कृति कहते हैं, फिर भी आज विद्यालयों में चर्खे की प्रवृत्ति शुरू करने के खिलाफ बोलने वाले कहते हैं कि चर्खे अथवा बुनाई की शैक्षिक मूल्यवत्ता नहीं है। इसी तरह चर्खे में हाथ हिलाना पड़ता है या बल का प्रयोग करना पड़ता है अतः इसकी शारीरिक-शिक्षा संबंधी मूल्यवत्ता है, स्पर्श और आँख की बारीकी की वजह से ही सुंदर धागा निकल सकता है अतः चर्खे की इन्द्रियों के शिक्षण में मूल्यवत्ता है, अथवा चर्खा चलाने में मनुष्य की यांत्रिक बुद्धि अथवा कल्पना का उपयोग होता है अतः चर्खा बौद्धिक शिक्षण हेतु महत्त्वपूर्ण है, या फिर चर्खे के परिणामस्वरूप सूत प्राप्त होता है अतः इसकी आर्थिक शिक्षण हेतु मूल्यवत्ता है ऐसा मानकर चलना एक भूल है। परिणाम मूल जानने का साधन है सचमुच, पर सही बात परिणाम नहीं अपितु कारण है। अनिच्छा से सूत कातने वाले बालक सूत कातने में परिणाम की दृष्टि से उन लड़कों से अलग नहीं हैं जो इच्छा से कातते हैं, लेकिन हेतु-दृष्टि से—कारण-दृष्टि से तो जरूर अलग पड़ेंगे ही। तब चर्खे की शैक्षिक मूल्यवत्ता जानने के लिए यह सिद्ध करना ही होगा कि स्वेच्छा से कातने वाले बालकों में कौन-कौनसी स्वयंस्फुरित प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं, किन-किन वृत्तियों को तृप्त करने के लिए बालक कातते हैं और क्या-क्या परिणाम दिखाते हैं।

हम यहाँ मनुष्य की अलग-अलग वृत्तियों का निरूपण करेंगे और फिर उनकी कौन-कौन सी वृत्तियाँ कताई में प्रकट होती हैं, इस हकीकत की दृष्टि से छानबीन करेंगे।

कई विद्वान मनुष्य की वृत्तियों को तीन भागों में विभक्त करते हैं: क्रियात्मक वृत्ति, ज्ञानात्मक वृत्ति, आवेशात्मक अथवा भावनात्मक वृत्ति (Doing : Hand; Knowing: Head; Feeling : Heart)।

क्रियात्मक वृत्ति हमारे जीवन की प्राथमिक जरूरतों के कारण उत्पन्न हुई है। पृथ्वी पर जन्मे मनुष्य की पहली वृत्ति अपना पेट भरना, सर्दी-गर्मी से अपने शरीर को बचाना तथा अन्य-अन्य भयों से बचना मानी जाती है। अपनी इसी जरूरत को पूरा करने के लिए मनुष्य हल जोतता है, कपड़े बनाता है, तथा अनेक तरीकों से शरीर की रक्षा हेतु प्राकृतिक ताकतों पर नियंत्रण करता है। यह जरूरत मनुष्य की शारीरिक

जरूरत है। शारीरिक जरूरतें पूरी करने के लिए मनुष्य शारीरिक शक्तियों का विकास करता है और उन्हें काम में लाता है। इसी जरूरत से अर्थशास्त्र का जन्म हुआ है। इसी जरूरत की वजह से जमीन पर रेलगाड़ियाँ और जल पर जहाज दौड़ते हैं। इसी जरूरत ने हमें आकाश से बातें करने वाले और हमारी साँस को रोक देने वाले धुएँ उगलते बड़े-बड़े कारखानों-मिलों की चिमनियाँ अर्पित की हैं। इसी जरूरत ने अंग्रेजों को हिन्दुस्तान में भेजा है और भारतीयों को अफ्रीका। पर यह जरूरत बुद्धि के प्रयोग से विरक्त नहीं। क्रियात्मक वृत्ति के साथ न्यूनाधिक रूप में मनुष्य की ज्ञानात्मक और भावनात्मक वृत्ति भी विद्यमान रहती है।

क्रियात्मक और ज्ञानात्मक वृत्ति के सहयोग से ईश्वर की बुद्धि को भी चक्कर में डाल देने वाले अतुलित बलवान और अद्भुत यांत्रिक बल वाले मनुष्य-शक्ति के प्रदर्शन जन्मे हैं। इसी सहयोग से घर, गाँव, शहर और देश बसे हैं और परिवार, जातियाँ तथा समाज का अस्तित्व बना है। पर मनुष्य में विद्यमान अतुल शक्ति इस वृत्ति को सान्त्वना देते-देते बिल्कुल खर्च नहीं हो गई। शरीर के अलावा मनुष्य के पास मन भी है। अभी तक वह जीने के लिए ज्ञान प्राप्त कर रहा था, तथा जीने के निमित्त भावनाएँ रखता था, लेकिन अब जब जीवन की समस्याओं का हल मिल गया है, क्रियात्मक वृत्ति को थोड़ा आराम मिल रहा है, तब मनुष्य ऊपर आकाश की तरफ देखने लगा और सोचने लगा कि यह जलता-सुलगता विशाल आग का गोला कहाँ से आया, यह शीतलता देने वाला और नित नये रूप धारण करने वाला चंद्रमा कहाँ से आया,ये अनगिनत तारों के समूह क्या हैं और कहाँ से आए हैं? इन विचारों में वह खो गया। जब उसने पैरों तले की भूमि की विविध पर्तों में प्रवेश किया तो उसे अनेक प्रकार के अद्भुत भंडार विपुल ज्ञान-रत्नों से भरे प्रतीत हुए। अपना पेट भरने के लिए उपयोग में लाये जाने वाले पशुओं और वनस्पति-जगत की तरफ वह नए नजरिये से देखने लगा और अपने मन को पूछने लगा कि यह सब क्या है और कहाँ से आया है? धीमे-धीमे उसकी दृष्टि क्रमशः विशाल बनने लगी और उसका मन संसार की स्थूल घटनाओं के कार्य-कारण संबंधों को खोजने हेतु उत्सुक हो गया। हमारे पूर्वज कौन थे और कब हुए थे, वह इस खोज के लिए उद्यत हो गया तथा हमारे शरीर का ढाँचा कैसा है, इसमें क्या-क्या विशेषताएँ हैं, इन्हें जानने के लिए शीघ्रता करने लगा।

मनुष्य की ज्ञान-पिपासा यहीं नहीं रुक गई। वह अपने धर्मों की तलाश करने लगा। मनुष्य कहाँ से आया है, कहाँ जाएगा, सृष्टि की रचना कैसे हुई और यह सम्पूर्ण सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, इन प्रश्नों का हल ढूँढने के लिए वह तरसने लगा। मनुष्य के भीतर विद्यमान इस ज्ञानात्मक वृत्ति के कारण अनेक तरह के विज्ञान प्रकट हुए। तत्त्वज्ञान भी इसी वृत्ति के परिणामस्वरूप हमारे हाथ लगा। क्रियात्मक वृति वाला मनुष्य अपने उपयोग के लिए प्रकृति को तहस-नहस कर रहा था, उस पर नियंत्रण हासिल करने में आनंद ले रहा था, जबकि यह ज्ञानात्मक वृत्ति वाला मनुष्य प्रकृति को जानने-समझने में लगा था। वैसे इस जानने-समझने से प्रकृति पर उसका नियंत्रण भी बढ़ा। पर अभी मनुष्य की अन्तर्शक्ति का अंत नहीं आया। वह अपने लिए सुख-चैन की साधन-सामग्री जुटाने लगा, अपने चारों ओर की सृष्टि में सर्वत्र कार्य-कारण संबंध तलाशने लगा फिर भी यह विस्तीर्ण अनंत नीलाकाश, पुण्य-परायण योगी जैसी वनवृक्षों की जटाओं से घिरा पर्वत, उधर दूर-दूर तक चाँदी की चादर ओढ़ कर लेटा विस्तृत सागर मनुष्य की भावनाओं को आंदोलित किए बिना नहीं रहा। खगोलविज्ञान जिसके हाथों में खेल रहा है उस मनुष्य को आज भी सूर्योदय, पूर्णिमा की चाँदनी तथा रात में तारकों का समुदाय रोजाना कुछ न कुछ नई-ताजी बातें कह जाता है। पेट भरने के लिए दरांती या करौती से वनस्पति को भरड़-भरड़ काट देने वाले किसान या सुथार तथा औषधि के लिए वनस्पति के अंगों-उपांगों के टुकड़े-टुकड़े कर देने वाले वैद्य को भी यही वनस्पति कभी न कभी सौंदर्य का अपूर्व उपदेश दे देती है। नील नदी की खुशनुमा हवा में उड़ने वाले पतंगों को अपने आहार के लिए पकड़ने वाले अफ्रीका के जंगली से लेकर सूप बनाने के लिए तीतर या कोयल-मैना को उबालने वाले राजा-महाराजा को, अथवा जंतु-जीवन की परिचर्या और शरीर-रचना सिद्धांतों को जानने के लिए अपनी प्रयोग की टेबिल पर जीव-जंतुओं को निर्ममता से काटने वाले या उबलते पानी में झोंक देने वाले जंतुशास्त्री को भी पतंगों के सुंदर पंख या कोयल की मधुर रागिणी अथवा जीव-जंतु की अपूर्व कुदरती कृति कभी न कभी चिंतन के उच्च धरातल पर ले जाती है। क्षुधा तृप्त और ज्ञान तृप्त मनुष्य जब ऊपर आकाश में और नीचे पाताल में देखता है तो उसका भाव-प्रवण मन पुकार उठता है कि अहा! इस सृष्टि का सौंदर्य कितना अद्‌भुत है। वह ब्रह्मांड दर्शन करता है। जब ब्रह्मांड-दर्शन के समय उसका

स्थूल एवं बौद्धिक स्वार्थ गल जाता है तो उसके हृदय से उपनिषद् निकलता है, उसके गले से कोई दिव्य संगीत फूटता है और उसके हाथ से कोई निराली कलाकृति जन्म लेती है। ये उपनिषद् बुद्धि-प्रधान एवं शुष्क वेदांत की सीमाओं को तोड़कर सिर्फ हृदय की अप्रतिम स्रोतस्विनी बने रहते हैं। ये काव्य सिर्फ इतिहास अथवा भूगोल को लाँघकर इतिहास अथवा भूगोल की जड़ वस्तु को चेतनता प्रदान करते हैं। जिस वृत्ति से ये सब चीजें प्रकट होती हैं उसे आवेशात्मक अथवा भावनात्मक वृत्ति कहते हैं। पेट भर जाने के बाद, काफी-कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद, काफी-कुछ देख लेने के बाद मनुष्य का मन होता है कि वह कुछ कहे, कुछ व्यक्त करे। यहाँ अपनी आत्मा को व्यक्त करने की वृत्ति से कलाओं की उत्पत्ति होती है। इसी वृत्ति का जब अतिरेक होता है तो मनुष्य के हृदय में गूढ़ नैतिक एवं आत्मिक तत्त्वों के दर्शन होते हैं।

जिस तरह क्रियात्मक वृत्ति को हम अनेक रूपों में देखते हैं उसी तरह ज्ञानात्मक वृत्ति के भी अनेक रूप हैं और इसी भाँति इस भावनात्मक वृत्ति के भी अनेक रूप हैं। आजीविका से संबंधित विभिन्न प्रवृत्तियाँ, भिन्न-भिन्न विज्ञान एवं कलाएँ इन तीनों वृत्तियों के ही फल हैं। मनुष्य ने जिस तरह अपनी ज्ञानवृत्ति को विविध विज्ञान एवं कलाओं की रचना द्वारा प्रकट किया है उसी तरह उसने विविध कलाओं को जन्म देकर अपनी कलावृत्ति प्रकट की है। कला की आत्मा का रूप से लगाव है, ध्वनि से लगाव है और शब्द से भी लगाव है। रूप संबंधी लगाव से मनुष्य द्वारा चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्यकला और ऐसी ही अन्य कलाओं की उत्पत्ति हुई; मनुष्य जब ध्वनि संबंधी लगाव प्रकट करने लगा तो उसके परिणामस्वरूप गायन-वादन की कलाएँ उत्पन्न हुई और जब वह शब्द विषयक प्रेम प्रकट करने लगा तो उससे साहित्य का नवनीत निथर आया।

पर यह तो हमने ऊँची उड़ान लगाई है। आइए, फिर से बालमंदिर के तहखाने में चलें और प्रेक्षक के सवाल का उत्तर देने की कोशिश करें। हम देखेंगे कि बालक क्रियात्मक वृत्ति से कातते हैं, ज्ञानात्मक वृत्ति से कातते हैं अथवा कलात्मक वृत्ति से कातते हैं। अगर बालक क्रियात्मक वृत्ति से कातता है तो उसका प्रधान उद्देश्य पेट भरना, अपने शरीर के लिए सूत उत्पन्न करना अथवा अपनी जरूरत हेतु सूत कातना होना चाहिए। यह उद्देश्य बालक के समक्ष साफ-साफ नहीं

होता। बेशक उसे इस बात का धुंधला-सा खयाल तो है कि उसकी क्रिया का क्या परिणाम आ रहा है; फिर वह सूत से चर्खे की माल बनाता है, डोरी बनाता है या लट्टू की डोरी, वह तो उसकी क्रिया का परिणाम है। इस प्रधान उद्देश्य से उसने सूत नहीं काता। परन्तु बालक क्रियात्मक वृत्ति से, ज्ञानात्मक वृत्ति से या संवेगात्मक वृत्ति से प्रेरित होकर जब कातता है, तब वह काम करते समय क्रियात्मक वृत्ति में अपेक्षित-क्रिया तो आ ही जाती है, क्योंकि क्रियात्मक वृत्ति शेष दोनों वृत्तियों का थोड़े-बहुत रूप में बाहरी शरीर तो है ही। शरीर की शक्ति और शरीर के बल का मनुष्य पेट भरने की क्रिया में उपयोग लेता आया है। वह सूत कातता है और इतना ज्यादा कातता है कि ऐसा कहे बिना रहा नहीं जाता कि भावना और उद्‌गार सूक्ष्म रीति से पेट भरने की क्रिया में अर्थात् परिग्रह वृत्ति के बीज में निहित हैं। यही नहीं वरन, अगर कातने का काम मात्र स्वयं कात रहा है, इस विचार को तृप्त करने के लिए ही और अधिक से अधिक सूत कातने के लिए ही वह करता है, और उत्तम किस्म के प्रति उसका रुझान नहीं बढ़ता, तो स्वीकार करना चाहिए कि ऐसे बालक में क्रियात्मक वृत्ति की प्रधानता है और आगे चलकर ऐसा बालक और अधिक क्रियात्मक बनेगा अर्थात् व्यापारी, कारीगर, अच्छा सुथार, लुहार, बुनकर, फिटर या इंजीनियर बनेगा। क्रियात्मक वृत्ति की इस प्रधानता में बेशक ज्ञानात्मक वृत्ति और संवेगात्मक वृत्ति तो कमोबेश रहती ही है और रहनी भी चाहिए। क्रियात्मक वृत्ति से अर्थात् थोकबंद भाव से सूत कातने की वृत्ति से कातने वाले को जहाँ यह सोचना-विचारना पड़ता है कि किस तरह सूत बनता है और चर्खा किस तरह चलता है, वहीं यह भी सोचना पड़ता है कि वह स्वयं कैसा सूत निकाल रहा है। परन्तु चर्खे की करामात या सूत निकालने की क्रिया अथवा सूत के धागे की सुंदरता उसका मुख्य विषय नहीं होती, अपितु उसकी मुख्य चेष्टा तो ठरड़-ठरड़, घर्रर-घर्र, मोटा-महीन जैसा भी निकले शाम तक उपयोग में आने लायक ज्यादा से ज्यादा सूत कातने की रहती है। ऐसा करते-करते उसके बाजू दुखने लगते हैं, क्षण भर की फुर्सत ही नहीं रहती फिर भी मन में अपूर्व प्रसन्नता भी रहती है।

आइए जरा देखें कि हमारे यहाँ ऐसी क्रियात्मक वृत्ति वाला बालक कौन है; कौन अपनी क्रियात्मक वृत्ति को तृप्त करने के लिए कातता है, अपनी क्रियात्मक वृत्ति को तृप्त करते-करते अपने शरीर को संस्कारित करने वाला, आवश्यकतानुरूप

बुद्धि को उपयोग में लाने वाला, आवश्यकतानुरूप कला की आत्मा का थोड़ा-सा भी स्पर्श करने वाला बालक कौन है; तथा अपनी अन्यान्य वृत्तियों को क्रियात्मक वृत्ति की सेवा में प्रयुक्त करने वाला कौन है! जो बालक इस वृत्ति से सूत कातता है क्या उसे चर्खे के माध्यम से महत्त्वपूर्ण शैक्षिक मूल्यवत्ता हासिल नहीं होती? जहाँ-जहाँ भी क्रियात्मक वृत्ति दिखाई देती है क्या वहाँ चर्खे के द्वारा उपजी हुई शैक्षिक मूल्यवत्ता प्रमाणित होती दिखाई नहीं देती? क्या भगवानलाल यह उपादेयता प्रमाणित करके नहीं बताता?

अब हम कह सकते हैं कि चर्खे की शैक्षिक मूल्यवत्ता है, क्योंकि यह एक आकर्षक चीज है। पर यह किस तरह की मूल्यवत्ता है? इस प्रश्न के उत्तर में अगर हम भगवानलाल के संदर्भ में क्रियात्मक वृत्ति को पोषक अथवा अन्य रीति से रखकर देखें तो कहा जा सकता है कि चर्खे की शारीरिक-शिक्षा संबंधी महत्ता है। कई बालकों के लिए चर्खे की महत्ता आर्थिक है तो कुछ अंशों में यांत्रिक है। आर्थिक या यांत्रिक महत्ता बताने वाला चर्खा शारीरिक व्यायाम देने वाली चीज है, स्नायुओं को अनेक तरह से सहयोग प्रदान करने वाली वस्तु है; इसमें तो किसी बात का संदेह नहीं; पर हमने देखा है उस तरह कांतिलाल तो सूत कातने के लिए कोई ज्यादा कोशिश नहीं करता, जबकि वह ज्यादा से ज्यादा सूत कातता है। उसका उद्देश्य सूत कातने की प्रक्रिया को समझना है। यह जानकारी हासिल करने के लिए ही उसे ज्यादा से ज्यादा सूत कातना पड़ता है, जो उसके लिए पीड़ादायी नहीं है। कांतिलाल तो 'क्यों, कैसे, किसलिए?' आदि सवालों का उत्तर ज्ञात करने के लिए ही यह क्रिया करता है। भगवान एक भी सवाल नहीं करता, जबकि कांतिलाल सवाल करता है अथवा प्रयोग करता है। कांतिलाल स्वयं अपनी कताई में रुचि लेता है, पर उससे भी अधिक दूसरों को कातना सिखाने में गहरी रुचि लेता है। न तो कांतिलाल अधिक मात्रा में थोकबंद कताई हेतु प्रयत्नशील दिखता, न वह सुंदर किस्म का धागा निकालने की प्रक्रिया का अभ्यास करता दिखता। लगता है वह तलधर में उत्तम किस्म का सूत निकालने की वृत्ति लेकर नहीं आता।

कांतिलाल की यह वृत्ति ज्ञानात्मक है। इस वृत्ति का लक्षण यह है कि वह आदमी क्रिया-प्रधान कम है और ज्ञान-प्रधान ज्यादा है। ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया में शरीर की बजाय मन-बुद्धि का प्रयोग ज्यादा रहता है। अपनी इस वृत्ति को तृप्त करने हेतु कांतिलाल की भुजाएँ नहीं दुखतीं अपितु उसकी बुद्धि तेज होती है।

इस वृत्ति को तृप्त करने वाला व्यक्ति परिणाम पर नजर नहीं रखता अपितु कार्य-कारण की खोज पर दृष्टि रखता है। अगर कांतिलाल इसी वृत्ति को तृप्त करने के लिए कात रहा है तो वह अपनी खोजी बुद्धि—शास्त्रीय बुद्धि को विकसित कर रहा है; और अगर चर्खा इस तरह की बुद्धि को विकसित करने का निमित्त बन जाता है तो उसकी शैक्षिक महत्ता में अवश्य ही मानसिक-बौद्धिक शिक्षण संबंधी मूल्यवत्ता का भी स्थान है। अर्थात् चर्खे से बौद्धिक शिक्षण मिलता है, यह मानना होगा।

ऊपर हम देख चुके हैं कि जब आदमी अपना पेट भर लेता है तब मन की भूख को तृप्त करने की कोशिश करता है; मन की भूख जब संतुष्ट हो जाती है तब उसे कुछ अन्य प्रकार की क्षुधाओं को तृप्त करने के लिए निकलना पड़ता है। कुसुम किस वृत्ति से कात रही है? आबाद और सुशीला के प्रयत्नों के पीछे क्या वृत्ति है? इन्दुमती तो आबाद में ही समा जाती है। क्या कुसुम ध्वनि संबंधी मनोभाव को तृप्त करने के लिए कातती है? और आबाद एवं सुशीला नामक बालिकाएँ क्या रूप संबंधी भावों की तृप्ति हेतु नहीं कात रही हैं? अगर यह सही है तो यह मानना पड़ेगा कि चर्खे में कला-शिक्षण की शक्ति है। अर्थात् चर्खे का कला-शिक्षण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर ध्वनि संबंधी भावनाओं को यह कैसे तृप्त करता है? इसमें हमें कैसा संगीत सुनाई देता है? भला यह कहने की धृष्टता तो हम कैसे करें कि कुसुम संगीत-प्रेमी है अतः चर्खे में संगीत सुनती होगी? यह भी कैसे कह सकते हैं कि चर्खा कातते समय उनका गाने का मन करता है अतः चर्खा संगीत का एक वाद्य है? लेकिन जब कुसुम चर्खे के स्वर की संगति में 'खरज खननन, तरज तननन, मरज मननन गाती है तब तो हमें थोड़ा अनुमान लगाने का मन हो आता है कि उसकी संगीतवृत्ति और चर्खे में कुछ मेल है। सत्याग्रह आश्रम के पंडित खरे ने चर्खे के संगीत को लेकर एक लेख में लिखा है कि 'जिन-जिन प्रांतों में परंपरा से चर्खा चलाया जा रहा है वहाँ असंख्य लोग उसके संगीत से मंत्रमुग्ध बने हैं। प्रख्यात परिव्राजक स्वामी विवेकानंद जब पंजाब में गए थे, तो वहाँ की वृद्ध महिलाओं के हाथ में क्रीडा करते चर्खे से निकलने वाली 'सोऽहम्' ध्वनि सुनते ही उन्हें समाधि-सुख मिल गया था, ऐसी बात उन्होंने एक स्थल पर कही थी। स्वामी विवेकानंद संगीत-कुशल थे, यह बात तो सर्व-विश्रुत है। तभी तो उन्होंने पंजाबी चर्खे का काव्यमय वर्णन किया था। तेलुगु लोगों के आंध्र प्रदेश में चलने वाले चर्खे में आज भी संगीत सुनाई देता है। हमारे आश्रम में भी कई ऐसे मजेदार चर्खे हैं कि

उस्ताद का हाथ लगते ही उनसे श्रवण-मधुर एकश्रुति आवाज निकलती है। छोटे बालकों को तो ऐसा लगता है मानो आसपास कहीं भँवरा गुंजार कर रहा हो अथवा ऐसा लगता है मानो उनके खेलने के लट्टू को किसी ने पूछे बिना उठाकर चलाया हो। उत्तम चर्खे की पंखड़ियाँ जहाँ ताल के नियमानुसार हवा को काटती हुई जाती हैं, तो वहाँ हवा में सुंदर आंदोलन शुरू हो जाता है मानो मरुद्गण का वृंद मधुर आलाप भर रहा हो।' पंडित खरे के उपर्युक्त शब्दों की सत्यासत्यता के विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते। लेकिन जब कभी कुसुम चर्खा कातते समय गीत गाने को प्रेरित होती है और चर्खे के स्वर से गीत उपजाती है, चर्खे को सुनने के लिए ही मानो एकतान हो जाती है, तब-तब लगता है कि पंडितजी के शब्दों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

अब हम सुशीला और आबाद के पास चलते हैं। दोनों सहेलियाँ रूप की पुजारी हैं, यह बात इनके चित्रकला के शौक से जाहिर है। इस सचाई को हमें चर्खे के शैक्षिक महत्त्व में बाधक नहीं बनने देना चाहिए। हकीकत यह है कि आबाद तो मानो सूत कातने के लिए ही चर्खा चलाती है। अभी उसमें ज्यादा तादाद में सूत कातने का लोभ नहीं जागा। सुशीला भी बढ़िया सूत कातने के लिए चर्खा चलाती है। दोनों में से एक की भी ऐसी वृत्ति नहीं है कि अगर खराब सूत निकलता है तो उसे रहने दे, उल्टे वे खराब सूत को तोड़ देती हैं। पर सुशीला ज्यादा मात्रा में कातती है और साथ ही साथ उम्दा सूत कातती है। अन्यथा दोनों की वृत्ति एक जैसी है। पूनी में से एक समान बारीक-बारीक सूत का धागा निकलते हुए देखने में जो रूप-दृश्य की तृप्ति है उस तृप्ति का ये दोनों बालिकाएँ आस्वाद लेती हैं। इनकी आँखें प्रकृति में रूप निहारना चाहती हैं। चित्रकला इनकी रुचि का विषय होने के कारण ये दोनों रूप-प्रधान हैं। चर्खे पर भी बारीक-बारीक धागे के रूप में अपनी आत्मा का सूक्ष्म रूप कातती हैं। चर्खा इनकी रूप प्रकट करने की वृत्ति का साधन होने से ये चित्र और चर्खे के बीच कोई पक्षपात नहीं करतीं।

नकल करना छोड़कर जब भगवानलाल चर्खा चलाता है तो वह बल-वृत्ति को संतुष्ट करना चाहता है, पढ़ने का काम छोड़कर जब कांतिलाल चर्खा चलाने जाता है तो वह ज्ञान-वृत्ति को संतुष्ट करना चाहता है; उछल-कूद, पढ़ने-लिखने या गधों के पीछे दौड़ने का काम छोड़कर जब मूलचंद कताई करने लगता है तो वह

क्रिया-वृत्ति को तुष्ट करना चाहता है; नाच-कूद, गीत-गायन, चित्रकला या कहानी सुनना छोड़कर जब आबाद, कुसुम, सुशीला और लीला आदि लड़कियाँ कताई करने लगती हैं तो वे कला-विषयक वृत्ति को मधुर भोजन देने जाती हैं। अंजु के लिए चित्र बनाना और कचरे में से सफेद हल्की-हल्की रूई इकट्ठी करना एक-सरीखा काम है। अगर चर्खा कला-विषयक वृत्ति का पोषक नहीं होता तो क्या आबाद इसके पास आती ? गणित तो मूलचंद, कांतिलाल और भगवानलाल को पसंद है। गणित में न आने के लिए ही आबाद ने खास तौर पर चर्खे का समय दोपहर का रखा है। क्या ऐसा है कि गणित में कला नहीं या आबाद में कला नहीं, ऐसा है !

उपर्युक्त विवेचन से देखा जा सकता है कि चर्खे का शैक्षिक महत्त्व बहुत बड़ा है। इसकी महत्ता में यह अंतिम महत्ता बहुत वृद्धि कर रही है। एक तरफ भगवानलाल और मूलचंद आकर्षित होते हैं, दूसरी तरफ कांतिलाल और अंजु आकर्षित होते हैं, तीसरी तरफ कुसुम और लीलु आकर्षित होती हैं तो चोथी तरफ इंदुमती, सुशीला और आबाद आकर्षित होती हैं। सब को अलग-अलग कारणों से चर्खा आकर्षक लगता है। कदाचित इसका यही कारण है कि चर्खा शिक्षण का एक सुंदर साधन होना चाहिए। भिन्न-भिन्न रुचि वालों को भी यह आकर्षित करता है इसका अर्थ भी यही निकलता है कि जिन-जिन वृत्तियों वाले लोग इस ओर आकर्षित होते हैं अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की जो-जो वृत्तियाँ तलघर में चर्खे के पास प्रकट हुई हैं, उन तमाम वृत्तियों का पोषक चर्खे को निश्चय ही होना चाहिए, यह बात माननी पड़ती है। ऐसे में बालक क्यों कातता है का यही जवाब मिलता है कि बालक अपनी जरूरत का शिक्षण प्राप्त करने के लिए चर्खे कातते हैं; भिन्न- भिन्न रुचि के बालक अपनी भिन्न-भिन्न रुचियों के शिक्षण हेतु चर्खों को काम में लाते हैं, इसीलिए प्रेक्षक ने भगवानलाल को गति से चर्खा चलाते देखा है, कांतिलाल को प्रयोग करते देखा है, आबाद को गौर से बारीक सूत कातते देखा है और सभी बच्चों को कताई के काम में प्रसन्नता से लगनपूर्वक काम करते देखा है। ❑

दूसरा प्रकरण

सिलाई और कढ़ाई-बुनाई

चमड़े के दो टुकड़ों को जोड़कर जब प्राचीन युग के मनुष्य ने चमड़े का लिबास—पहनने का कुछ बनाया होगा तो उसे अपनी उस अद्‌भुत खोज पर बहुत खुशी हुई होगी। चमड़े के टुकड़ों में पत्थर से छेद करके जिस दिन उसने चमड़े के फीते से जोड़ा होगा, कला-कारीगरी के इतिहास में कदाचित वह दिन पहले दिन के बतौर माना गया होगा।

उसके पश्चात् वल्कल के टुकड़ों को बबूल की शूलों से छेद करके वल्कल के रेशों से जब उसने बबूल की सूई द्वारा जोड़ा होगा, तो कदाचित वह समय सिलाई की प्रगति में कई वर्षों के अंतराल बाद आया होगा।

फिर तो आगे चलकर कपास उगाकर उससे कपड़े बनाने की कला लोगों के हाथ लगी। कपड़ों को बबूल या लोहे की सूई से जोड़ा गया और लोगों ने उनसे अपने शरीर को ढँका। तब से तो सिलाई कला का विकास द्रुत गति से आगे बढ़ा। आज दर्जियों के हाथों सिलाई-कला विविधता प्राप्त कर रही है और धागे से कपड़ों को जोड़ने की खोज विस्तृत हो रही है।

सिलाई अर्थात् सीना। इसका मुख्य प्रयोजन शरीर को ढँकना और शरीर की रक्षा करना है। पर अब तो इसका प्रयोजन इससे भी बढ़कर शरीर का शृंगार करना और शोभायमान करना हो रहा है। हमारे जीवन में दोनों दृष्टि से अर्थात् उपयोगिता एवं शृंगार की दृष्टि से सिलाई का महत्त्व है। अतः सिलाई को उपयोगी उद्योग के बतौर सीखने के साथ-साथ इसमें ओतप्रोत कला भी सहेजनी-पनपानी पड़ती है।

शरीर का पोषण जितना स्वाभाविक है उतना ही स्वभाविक है इसका संरक्षण। संरक्षण के लिए अनाज, बर्तन, मकान आदि की मनुष्य ने जिस तरह खोज की, उसी तरह उसने सिलाई की भी खोज की। यह खोज जीवन के समानांतर आज तक मनुष्य के साथ चली आई है तथा इसने मनुष्य को अपने में हमेशा प्रवृत्तिशील एवं रुचिशील रखा है।

बालकों के खेलों में जिस तरह मनुष्य की जरूरतें प्रकट होती हैं उसी तरह उनके खेलों में सिलाई की जरूरतें भी प्रकट होती हैं। स्वच्छंदता से खेलने वाले और साधनों वाले बालक जिस तरह मिट्टी के खिलौने बनाएँगे, बगीचे बनाएंगे, घर बनाएँगे, उसी तरह छोटे-छोटे कपड़ों के टुकड़े लेकर उन खिलौनों के लिए पोशाकें बनाएँगे। उनका मकसद खिलौनों की रक्षा करना नहीं होगा अपितु पोशाक बनाने के बहाने सिलाई सीखना होगा; खिलौनों को सजाना उनका मकसद नहीं होगा अपितु अपने भीतर इस कल्पना का विकास करना होगा कि खिलौनों को सजाने के माध्यम से स्वयं को कैसे सजा सकें, अपना शृंगार कैसे कर सकें! जब तक कोई खिलौना बालक के इस प्रयोजन को पूरा करने का साधन बना रहेगा तब तक वह बालक के लिए महज मन की तरंग ही नहीं अपितु वास्तविक सिलाई की कलात्मकता और साथ ही साथ कला-शिक्षण में भी सहायक बनेगा।

विद्यालय में अथवा घर में उपयोगिता की दृष्टि सामने रख कर बालक को सिलाई-काम शुरू कराया जा सकता है। छोटे रुमालों के किनारों को सीना, थैले बनाना, पैबंद लगाना आदि-आदि काम बालकों के सामने लाये जाएँगे तो सिलाई का विषय उन्हें प्रयोजनीय और जीवंत लगेगा।

ऐसे उद्देश्य हों और इसकी तैयारी शास्त्रीय रीति से की जाए तो बालक सिलाई में जल्दी सिद्ध हो जाता है। वह इसकी उपयोगिता भी समझ जाता है और इस काम की सरसता भी।

छोटे बच्चों को सिलाई की पूर्व तैयारी के रूप में लकीर खींचना सिखाया जाए। सिलाई भी तो सूई-धागे की कलम के द्वारा लिखा गया आलेख है। अथवा ब्रुश के द्वारा बनाया गया रेखांकन है। इस रेखांकन के लिए हाथ के स्नायुओं को साधना पड़ेगा कि वे सूई पकड़ सकें और निर्धारित दिशा में ले जा सकें। सीधे-सीधे सूई पकड़ा कर अगर सिखाएँगे तो सूई पकड़ना, छेद करना, उनमें से धागे को ले जाना-लाना, कपड़े के ऊपर वाली लकीर का अनुकरण करना आदि समस्त क्रियाएँ बालक को एक साथ करनी पड़ेंगी, इससे उसका काम मुश्किल हो जाएगा।

अतः सूई-धागा देने से पहले बालक को कागज पर पेंसिल से लकीर खींचना सिखाना आवश्यक है। कागज पर किसी भी आकृति में सीधे समानांतर व

नजदीक-नजदीक लकीरें भरने वाला बालक अपने हाथ में और दृष्टि में सिलाई की लकीरें भर सकेगा। साथ ही साथ ऊपर लिखे अनुसार पेंसिलों द्वारा लकीरें भरने का काम सिद्ध करने वाले बालक को कढ़ाई का काम अपने आप आ जाएगा।

सिलाई-कढ़ाई की पूर्व तैयारी के रूप में फ्रॉबेल ने चटाइयाँ गूँथने का काम समझदारी के साथ शुरू किया था। परंतु चटाइयों का इस्तेमाल नन्हें बालकों की उंगलियों के अनुकूल नहीं पड़ता; और कागज की पट्टियों के टूट जाने से तथा ऊपर-नीचे चढ़ाने की कठिनाइयों के कारण अगर वह काम शिक्षक पहल करके न कराएँ तो बालकों को अपने आप उनमें आकर्षण महसूस नहीं होता।

इसके बजाय हाथ ऊपर-नीचे होने की आदत के लिए पेंसिल पर काबू कैसे किया जाए और तब सूई पर काबू कैसे प्राप्त किया जाए इसके लिए निम्नलिखित विधि प्रयोग द्वारा सफल प्रतीत हुई है।

कागज के अंदर सूई से फकत सीधी लीक पर छेद डालने का काम कर लेने के बाद बालक को कपड़े का टुकड़ा और सूई-धागा दिया जाना चाहिए। कपड़े के टुकड़े पर बालकों को लीकें खींच कर दे दें, तब बालकों को यह बताएँ कि वे लकीरों पर ऊपर-नीचे सूई को किस तरह ले जाएँ। धीरे-धीरे बालक लीकों के आधार पर सीधी लकीर में ऊँचा-नीचा टाँका लगाना सीख जाएगा।

इतनी क्षमता आ जाने पर बालक लकीर पर सूई से ऊपर- नीचे टाँका लगाना सीख लेगा और परिणामस्वरूप रुमाल की किनारी बनाने लगेगा।

शिक्षण का साधन स्व-साधन के रूप में हो तो बच्चे बिना किसी विक्षेप के तरीका अथवा ज्ञान शीघ्र हासिल कर लेते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कपड़े का टुकड़ा और सूई-धागा बच्चों के शिक्षण का सर्वोत्तम साधन है। गुड़िया या गुड्डे का हेतु ध्यान में रखकर उनके वस्त्र घघरी या ओढ़नी बनाने में बालक वांछित जानकारी प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि सीखने के पीछे उनका हेतु प्रबल होता है। लेकिन उनमें सिलाई के पीछे विद्यमान सूई-धागे की उपयोगिता और रीति की भूमिका-स्वरूप कल्पना का विचार नहीं होता। इसीलिए फ्रॉबेल को सूई-धागे के द्वारा कागज के कार्ड पर चित्रित छेददार चित्रों को भरने-भरवाने का काम बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं लगा।

जब कपड़े के टुकड़े पर बालक रंग-बिरंगे धागों से सूई चलाएगा, तब उसे ऐसा ही आभास होगा कि वह लकीरें भर रहा है और रंग-बिरंगे धागों को काम में लाकर कपड़े के टुकड़े पर जब रंगीन चित्र उभरता देखेगा तो ऐसा चित्र बनाने के लिए वह बार-बार डोरे भरने का काम करेगा अर्थात् वह धागे भरने के काम का आनंदपूर्वक पुनरावर्तन करेगा। पुनरावर्तन के लिए आनंद आना चाहिए और आनंद के लिए हेतु होना चाहिए। हेतु जितना लंबा होगा, पुनरावर्तन भी उतना ही लंबा चलेगा।

गुड़ियों-गुड्डों के लिए घागरा-ओढ़नी एक बार बना लेने के बाद बालक का हेतु पूरा हो जाता है, अतः उनसे पुनरावर्तन का अवकाश नहीं निकलता, जबकि सूई के पीछे चले आने वाले रंगीन धागों से कपड़ों के टुकड़ों पर प्रत्येक टुकड़े पर रंग-बिरंगे धागों का गलीचा बन जाता है, कढ़ाई का नमूना बन जाता है तो बालक की सौंदर्य-वृत्ति रस का कारण होने से हेतु की अपेक्षा रस उसे पुनरावर्तन का लंबा अवसर प्रदान करता है; इसीलिए अनजाने में ही सही, बालक सीने के लिए सूई का सहारा लेता है, उस पर शीघ्रता से काबू करता है और साथ ही साथ सौंदर्यवृत्ति को विकसित करके संतोष प्राप्त करता है। इसके परिणामस्वरूप ऐसे काबू वाले बालक सिलाई के आनंद के लिए ही सिलाई में (जैसे चित्रों में आनंद की वजह से नए-नए चित्र बनाते हैं वैसे ही) भी नए-नए चित्र बनाते हैं। कसीदा और कढ़ाई के ज्ञान को वे गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि आकृतियों में काम में लाते हैं और इस तरह रंगीन धागों द्वारा कपड़ों के टुकड़ों पर चित्र बनाते हैं। कढ़ाई अर्थात् कपड़े के फलक पर धागों से चित्रित करना। इस तरह के चित्रों का काम कसीदा-कढ़ाई से ही शुरू होता है।

इसके विपरीत शालाओं में जहाँ सिलाई सिखाई जाती है वहाँ प्रथम तो बहुत छोटे बच्चों को वह सिखाई नहीं जाती, अपितु ऊँची कक्षा की बालिकाओं को सिखाई जाती है। बालिका विद्यालयों में यह विषय है भी नहीं। वस्तुतः जिस तरह खाना बनाना सभी को आना चाहिए उसी तरह सिलाई-कढ़ाई सभी को आनी चाहिए। जब से स्त्री-पुरुषों के बीच काम का कृत्रिम विभाजन हो गया है, उससे पहले तो यह काम सभी को आता था। आज तो बालक-बालिकाओं के सभी प्राथमिक विद्यालयों में यह विषय शुरू किया जाना चाहिए। मोंटेसरी विद्यालयों में बहुत छोटे बच्चों से जिस तरह चित्र बनवाए जाते हैं, उसी तरह सिलाई का काम भी

कराया जा सकता है। प्रत्येक काम में जिन अलग-अलग तत्त्वों का जानकारी के रूप में तथा कला-दृष्टि के रूप में विकास होना चाहिए, उन सभी तत्त्वों को एक साथ हासिल करने में शिक्षा कठिन हो जाती है; ऐसे में वह बड़ी उम्र के बालकों द्वारा ही संभव है, ऐसी धारणा बन जाने के कारण उसे बड़ी उम्र के बालकों द्वारा ही योग्य माना जाता है। लेकिन इस तरह की परिस्थिति को ध्यान में नहीं लाना चाहिए। बड़ी उम्र में एक साथ सभी कुछ सिखाने की बजाय छोटी उम्र से किसी विषय की जानकारी देने के नन्हें-नन्हें कदम अलग-अलग उठाए जाएँ, इसी में शिक्षण की वास्तविक कला निहित रहती है। अतः इस काम को नन्हें बालकों से अवश्य शुरू किया जा सकता है।

चालू विद्यालयों में सिलाई के मात्र नमूने बनाने में ही सिलाई-कला का शिक्षण समाप्त हो जाता है। इसमें विद्यार्थी को फकत इतनी ही जानकारी मिल पाती है कि सिलाई का काम कैसे किया जाता है, लेकिन सिलाई के काम की कारीगरी अर्थात् गतिशीलता उसमें नहीं आ पाती। इसी भाँति सौंदर्य-दृष्टि के विकास का मौका भी नहीं मिल पाता। एक स्थान पर स्लाइड के काम के बारे में जो कहा गया है वह यहाँ भी कहा जा सकता है कि नमूने बनाना या काम करना, इनमें शिक्षण नहीं है अपितु काम करने में जो पुनरावर्तन होता है, उसमें शिक्षण निहित रहता है। विद्यालयों में पुनरावर्तन के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। नमूना बड़ी ही सावधानी से, त्रुटियों से बचते हुए, पूर्ण जानकारी एवं देखरेख के साथ तैयार कराया जाता है, उसकी कद्र भी होती है, पर उससे कला अथवा कारीगरी का शिक्षण नहीं मिलता।

प्राथमिक विद्यालयों में नमूने तैयार कराने के पीछे शायद खर्चे का कारण मुख्य रूप में रहता होगा; पर यह मान्यता सही नहीं है। कपड़ों के टुकड़ों पर बच्चे बार-बार सूई-धागा चला-चला कर भले ही सैकड़ों टुकड़ों पर कढ़ाई निकाल लें, उनमें कोई ज्यादा खर्चा थोड़े ही आता है। धागों को उधेड़कर धो लेने के बाद उन्हें फिर से काम में लाया जा सकता है।

प्राथमिक विद्यालयों में सिलाई का काम सिखाकर कितना-कुछ सिखाया जाता होगा, यह तो मैं नहीं कह सकता। पर उससे सिलाई का शौक तो हर्गिज नहीं आ पाता। सिलाई जानने वाली पढ़ी-लिखी बहनें सिलाई के काम का आदर नहीं करतीं, अथवा जरा-जरा से काम के लिए दर्जी के पास भागती हैं, इसका यही तो

कारण है कि उनमें सिलाई का शौक पैदा नहीं हुआ। मैं एक बालक को और उसकी माँ को जानता हूँ। बालक में सिलाई का शौक बाल-मंदिर से पैदा हुआ है अतः वह घर पर फौरन फटे कपड़े सी लेता है, बटन लगा लेता है, कपड़ों के खिलौने बनाते नहीं थकता। जबकि उसकी माँ सिलाई की कक्षा में उत्तीर्ण होते हुए तथा फुरसत होते हुए भी फटे कपड़ों को सीने का शौक नहीं रखती। इसका मुख्य कारण है सिलाई सिखाने की रीति का अंतर।

सिलाई के बारे में इतनी चर्चा करने के पश्चात् बस इतना ही कहना है कि शिक्षक को उपर्युक्त दृष्टि से ही प्राथमिक शाला में स्थान देना चाहिए और इसकी शुरुआत ऊपर लिखे अनुसार चित्र विधि से ही करनी चाहिए। सिलाई में कैसा क्रम रखा जाए, इस संबंध में श्रीमती तारा बेन मोडक ने सिलाई के अपने लेख में विस्तार से लिख दिया है, अतः उसे मैं यहाँ छोड़ रहा हूँ (देखें मोंटेसरी शिक्षण प्रचार माला, पृष्ठ 117)

कढ़ाई सीना नहीं है, पर इसमें कपड़े, सूई और धागे का उपयोग होता है। कढ़ाई किए गए कपड़ों के छोटे टुकड़ों को भी पहना जा सकता है। कढ़ाई किए गए कपड़ों को लोग उसी रूप में अथवा सी कर संरक्षण के लिए अथवा शोभा के लिए काम में लेते हैं। इसी भाँति बिस्तरों की चद्दरों और तकियों के गिलाफों आदि में कसीदाकारी उपयोग के निमित्त भी है और शोभा के निमित्त भी। चंदोवों, चकलों, दरवाजों, बैल के सींगों आदि की कसीदाकारी शृंगार के निमित्त है। उपयोग के साथ-साथ लोग-बाग शृंगार के लिए भी चीजों को काम में लेते आए हैं। ऐसा करके उपयोगिता के साथ-साथ कलावृत्ति को भी लोगों ने स्थान एवं संतोष दिया है। इसके अलावा कई जगहों पर लोगों ने शृंगार के लिए ही शृंगार रचकर कला-वृत्ति को पोषण दिया है। इस तरह उन्होंने जीवन की महत्त्वपूर्ण वृत्ति के विकास को अवकाश दिया है तथा जीवन को आनंदित किया है। जीवन-व्यवहार के निमित्त काम में लाई जाने वाली चीजें जीवन को सुख देती हैं। इस सुख से निकलने वाला आनंद एक प्रकार है। इससे ऊँचे आनंद का प्रकार कला-सर्जन प्रवृत्ति में निहित है। कसीदाकारी ने व्यवहार के साथ मिल कर लोगों के सुख में कला का आनंद बढ़ाया है तथा उन्हें सुरक्षित रखने के साथ-साथ प्रसन्न बनाया है।

जीवन में प्रयोग करने वाले लोगों ने किस घड़ी यह बात खोज निकाली कि मनुष्य के संरक्षण-मात्र में मनुष्य का आनंद नहीं समा जाता? पर पेट भर कर शरीर की जरूरतें पूरी करने के बाद, वैज्ञानिक खोजें करके बौद्धिक अपेक्षाएँ पूरी कर लेने पर हृदय अथवा भावना अथवा कल्पना अथवा कला की जरूरतें पूरी किए बिना उन्हें शुद्ध सात्विक आनंद नहीं मिलेगा, जब यह बात उन्हें समझ में आई, तब उन्होंने जीवन में उपयोगिता के साथ कला को जोड़ा। कसीदे की कला इस तरह वस्त्र की उपयोगिता के साथ जुड़ गई है।

बीच में तो ऐसा युग आया कि सादगी के नाम पर अथवा सुघड़ता-संस्कारिता के नाम पर शिक्षित लोगों ने कसीदे वाले और कई हद तक रंगीन वस्त्रों का भी बहिष्कार कर डाला, तथा आज के विदेशी ढंग से बनने वाले मकानों जैसे सीधे-सपाट वस्त्रों में संतोष माना। पर कला की यह विकृति लंबे समय तक टिक नहीं सकी और सहज ही फिर से शिक्षित वर्ग का ध्यान कसीदेकारी की तरफ गया। अमेरिका से यहाँ का कसीदा किया हुआ घाघरा पहन कर घूमने वाली हमारे देश की किसी महिला की दृष्टि कितनी कलात्मक है, इस तरह की बात जब अमेरिकी महिलाओं ने कही, तो शिक्षितों को लगा कि अपने देश की लोकप्रिय कसीदाकारी कला की प्रशंसा उन्होंने अभी तक नहीं की, ऐसा कैसे हुआ? पर यह हो गया! अब इस संबंध में दृष्टि बदली है, यह सौभाग्य की बात है।

कसीदाकारी का शिक्षण शाला में शुरू किया जा सकता है। वहाँ शुरू किया जाएगा तो उनकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, बल्कि इससे भी बढ़कर शाला और उसके संचालकों को प्रतिष्ठा मिलेगी। कसीदा-कढ़ाई का शिक्षण इसलिए सफल होगा क्योंकि धनी वर्ग भी आज सर्व साधारण के साथ कसीदे वाले कपड़ों में सुशोभित होने को उत्सुक है। हमारे गाँवों में कसीदाकारी किस तरह की जाती है, यह जानकर हमारे विद्यालय उसे अपने यहाँ आसानी से शुरू कर सकते हैं।

गाँव की लगभग प्रत्येक महिला कसीदाकारी जानती है। वे अपनी पुत्रियों की कसीदाकारी-शिक्षिका हैं। विवाह में नेग की रस्म के बतौर पुत्री को कसीदाकारी किये हुए कपड़े दिये जाने चाहिए, इसी प्रथा ने उनकी लोकशाला को अभी तक जीवित किए रखा है। इसी के साथ कसीदाकारी-शिक्षण की पद्धति भी ज्यों की त्यों परंपरा से उतरती चली आ रही है।

यह पद्धति अर्थात् कपड़ों पर स्याही से आलेखन और उस आलेखन के ऊपर रंग-बिरंगे रेशम या सूत से कसीदा निकालना। आलेखित आकृति की रेखाओं के आमने-सामने वाले बिन्दुओं को धागों से जोड़कर आकृति की सतह को रंगीन धागों से भर देने का नाम है भरत अथवा कसीदा कढ़ाई। इसमें आलेखन और धागे भरने का ज्ञान दोनों भरत-कला अथवा कसीदाकारी के अंग हैं। आलेखन का आधार चित्रकला है और धागे भरने के काम का आधार चित्र की कारीगरी की सम्पूर्णता है अर्थात् अगर किसी व्यक्ति को रेखांकन करना आता हो और बिन्दुओं को जोड़ने की हाथ एवं उंगलियों में जानकारी हो तो वह भरत-काम कर सकता है।

प्राथमिक विद्यालयों में, और विशेष रूप से बालिका विद्यालयों में अभी तक भरत-कला का शिक्षण बहुत पिछड़ा हुआ है, बल्कि नहीं है, यह शोचनीय स्थिति है। लेकिन एक तरह से ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि प्राथमिक विद्यालयों ने अभी तक अपना दायित्व वही सब सिखाना तय किया है जो घरों में नहीं सिखाया जाता। पर कसीदाकारी का काम तो गाँवों में घर-घर सिखाया जा रहा है, क्योंकि भरत किए हुए कपड़े अब भी विवाह में देने की आवश्यक वस्तु हैं। इसके बावजूद गाँवों की जिन वस्तुओं को शहर ने टुकड़े-टुकड़े कर डाला है, उस सूची में न जाने भरत-काम कब शामिल कर दिया जाए, यह कहा नहीं जा सकता। अगर एक बार गाँवों से भरत-कला नष्ट हो गई तो इसका पुनरुद्धार मुश्किल ही नहीं, असंभव हो जाएगा। ऐसे में प्रत्येक कन्या-विद्यालय में इस कला को स्थान दिया जाना चाहिए। घर बैठे-बैठे कहीं ऐसी उपयोगी कला जीवन से चली न जाए। कन्या विद्यालयों के वर्तमान अभ्यासक्रम में अगर इस कला का स्थान न हो तो हमें स्थान देना होगा, और अगर दे पाना संभव न हो तो अभ्यासक्रम से बाहर जाकर भी ऐसे विषय सिखाये जाने चाहिए। ट्रेनिंग कॉलेज में भी भरत का विषय अध्यापिकाओं के लिए अनिवार्य होना ही चाहिए।

भरत-कला का विषय खास तौर पर गाँवों में वहाँ के निवासियों को पसंद आएगा। अगर माताओं को आज की स्थिति में अपनी पुत्रियों को भरत-काम सिखाने के लिए कम समय मिलेगा तो बालिका-विद्यालयों का काम तीव्र गति से चलेगा और यह विषय विद्यालयों में आते ही उन घरों तक भी पहुँचेगा, जहाँ कसीदाकारी का रिवाज नहीं है।

बुनाई का काम, जहाँ पहले उपयोगी माना जाता था, आज वहाँ से नीचे खिसक गया है। जहाँ लोग इससे अज्ञात थे, यह वहाँ चला आया है। कई जातियों के लोग बुनाई के काम को फुरसत में करके अच्छा लाभ हासिल करते हैं, लेकिन जो स्त्री-पुरुष पहले से किसी काम में लगे रहते हैं, वे शायद ही इसके लिए फुरसत निकाल पाते हैं। धनिकों के घरों की स्त्रियाँ समय बिताने के लिए बुनाई करती हैं, इसी तरह शिक्षित घरों की कई महिलाएँ भी समय के सदुपयोग के लिए बुनाई किया करती हैं।

जैसे-जैसे हाथ की बुनाई का काम कारखाने के बुने काम की तुलना में घटता जा रहा है, वैसे-वैसे हाथ की बुनाई महँगी पड़ती जा रही है। बाजार में बिकने वाले ऊनी झब्बे, कनपोश, मौजे, टोपियाँ और सूती धागों के टेबल-पोश आदि इसके साक्षी हैं। बुनाई के काम का भरत के काम की भाँति गाँवों में निश्चित स्थान नहीं है; शहर में भी इसका स्थान सिर्फ दुकान में ही है। अतः जीवन में इसकी कलात्मक मूल्यवत्ता इसकी उपयोगिता में निहित है, न कि बुनावट में।

क्या विद्यालयों में बुनाई-कला शामिल की जाए, इस बारे में सर्व प्रथम हमें ही विचार करना है। इससे जानकारी बढ़ेगी। कई कन्या विद्यालयों में सिलाई के साथ-साथ मफलर और झब्बों की बुनाई का काम भी चलता है, पर वह नमूने के लिए ही है, उपयोगिता की दृष्टि गौण है। नमूने बनाने वालों के हाथों से जरूरत के अनुसार पुनरावर्तन नहीं होने से उनमें आवश्यकतानुरूप माल तैयार करने की क्षमता पैदा नहीं होती। परिणामस्वरूप शाला की बुनाई का काम घरों के साथ नहीं जुड़ता।

बुनाई का काम शालाओं में शुरू किया जाना चाहिए, पर जो भी वस्तुएँ बनाई जाएँ वे उपयोग में आनी चाहिए, मात्र शोभा को लिए नहीं। बुनना आ गया तो कुछ न कुछ बुनना ही चाहिए, यह सच्चे शिक्षण का परिणाम नहीं है। जब बनाने की जरूरत आ जाए तो बुनना एक आदर्श स्थिति होगी। सिलाई में वैसा है, जबकि बुनाई में नहीं।

कला की दृष्टि से बुनाई के काम में यंत्र-मर्यादा अधिक है, स्वयं स्फुरित सर्जन नहीं। पुनरावर्तन अधिक है, क्योंकि बुनाई के हर काम में उंगलियों का व्यायाम है, उंगलियों और आँखों के सहयोग का पुनरावर्तन है।

सिलाई, कढ़ाई या बुनाई के नमूने इस दृष्टि से बनाने चाहिए कि जिनका जीवन के साथ संबंध हो। उनके सिद्धांतों की किताबों में छपे नमूने बनाकर वहीं अटक जाना नुकसान की बात है। पैसे वाले लोग फुरसत में पैसों का सदुपयोग करते हैं, अगर दुरुपयोग न करें तो रुमाल बनाएँ, टेबिलपोश बनाएँ, यह उनके विवेक पर निर्भर करता है, पर इसे शाला में न लाया जाए। इसी भाँति मोतियों के तोरण या तीलियों के तोरण बनाने में कला-दृष्टि विकसित करने की बजाय साधारण हाथ-पैरों का व्यायाम मात्र होता है। मिल में बने कपड़े में जो कलात्मकता होती है, वैसी ही इनमें दिखाई देती है। फकत यांत्रिक क्रिया की प्रधानता ही मुख्य होती है, सर्जन तो बहुत कम होता है। अतः विद्यालयों में ऐसी प्रवृत्तियों को शामिल करने हेतु प्रोत्साहित न किया जाए। मोतियों के तोरण बनाने की बजाय भरत-कला वाले तोरणों की कलात्मक मूल्यवत्ता अधिक होती है और इस दिशा में हमें वापिस लौटना चाहिए।

कसीदाकारी और बुनाई के नमूने भी विदेशी के बजाय देशी होने चाहिए। भरत के जो आलेखन अभी हो रहे हैं, उनमें भी परिवर्तन-परिवर्द्धन होना चाहिए। इस दृष्टि से भरत की कसीदाकारी करने वालों और बुनाई करने वालों को चित्रकला तथा रंगों की अच्छी जानकारी हमेशा रखनी चाहिए। विद्यालयों में भी इन्हें जितना कुछ संभव हो सके उतना शामिल करना चाहिए। ❑

तीसरा प्रकरण

मिट्टी का काम

प्राथमिक विद्यालय की शिशु कक्षा में और पहली कक्षा में ही फकत—और ज्यादातर तो मात्र शिशु कक्षा में ही भूले-भटके मिट्टी का काम कराने की शायद ही कोई अच्छा विद्यालय कल्पना करता होगा। अर्थात् प्राथमिक शालाओं में आजकल मिट्टी के काम को लगभग कतई स्थान नहीं है। गारा चूँथना लोगों के मन में एक हल्के किस्म का काम है। जबकि बच्चे घरों या गलियों में गारे से तवा, चूल्हा, गाँठिये बनाते आए हैं। इनकी शैक्षिक महत्ता कितनी अधिक है, इस संबंध में शायद ही किसी ने सोचा होगा। पढ़े-लिखे और सुशिक्षित लोग गारे से खिलौने बनाने का काम जंगली बताते हैं, और कई लोग तो बच्चों को धूल छूने ही नहीं देते। ऐसे में मिट्टी के काम को स्थान भी नहीं मिल पाता।

इसके बावजूद कई किंडरगार्टन शालाओं में तथा अच्छे घरों में प्लास्टीसीन अथवा ग्लिसरीन चोक की बनाई मिट्टी काम में ली जाती है और घर में या विद्यालय के कमरे में बैठे-बैठे बालक घरों में रोजाना काम में ली जाने वाली या दिखने वाली चीजें जैसे—संडासी, तपेली, चूल्हा आदि चीजें बनाते हैं। प्लास्टीसीन काम में लाने वाले यह मानते हैं कि इससे न हाथ खराब होते, न कपड़े और क्ले-मॉडलिंग अर्थात् मिट्टी का काम भी पूरा हो जाता है।

किसी-किसी मोंटेसरी शाला में मिट्टी का काम किया हुआ देखने में आता है। नन्हें बच्चों को प्लास्टीसीन या किसी भी तरह की मिट्टी से कुछ न कुछ बनाना अच्छा लगता है और वे इस काम में घंटों लगाते हैं। अपने आसपास की चीजें, या जिनका बालक सहज ही अवलोकन करते हैं, वे बनाया करते हैं।

मिट्टी के काम से संबंधित वर्तमान में प्रचलित इस स्थिति से एक बात उभर कर आती है। वह यह, कि बालकों को मिट्टी से कुछ न कुछ बनाना अच्छा लगता है। वे उसमें खोये रहते हैं। अपने खिलौनों में वे अवलोकन को प्रतिबिम्बित करते हैं। अनुशासित रीति से कैसे काम किया जाता है, यह बताया जाए तो वे अपने काम के साथ अनुशासन भी सीखते हैं। एक बात और उभरती है कि अगर बालकों

को यथेष्ट मात्रा में खिलौने बनाने दें तो वे गाँठिये, साँप, तवा, चूल्हा जैसे खिलौनों के क्षेत्र से बाहर जाते नहीं दिखेंगे अर्थात् उनमें खिलौनों की विविधता बहुत कम देखने को मिलेगी। संक्षेप में, आजकल चलने वाले मिट्टी के काम का सारांश यह है कि घर में या गली में बच्चे जो मिट्टी का काम करते हैं वह निंदा या तिरस्कार का पात्र है, प्राथमिक विद्यालय में उसे कोई स्थान नहीं। बाल-विद्यालयों में इसका बहुत ज्यादा विकास नहीं हुआ है। इस संबंध में उनकी दिशा स्पष्ट नहीं हुई है।

एक बात स्पष्ट है कि गारे को लेकर विद्यालयों में जो घिन देखने में आती है, यह एक गलत प्रवृत्ति है। बालकों को गारा चूँथना अच्छा लगता है अतः वे गंदे हैं, ऐसा नहीं है। मिट्टी या गारे से बच्चों के हाथ या कपड़े गंदे हो सकते हैं, पर इसमें गंदगी जैसा कुछ भी नहीं है। जिन कामों में गारा उपयोग में आता है, ऐसे कई काम और पदार्थ घृणा के पात्र गंदे काम नहीं हैं। कुम्हार का धंधा गंदगी चूँथने का नहीं हैं। जोहरी के हाथ में जिस तरह हीरा है, चित्रकार के हाथ में रंग और तूलिका है, उसी तरह कुम्हार के हाथ में चाक और मिट्टी का पिंड होता है। इसी तरह बालकों के हाथ में झाड़ू या रंदा या गारे का पिंड हो तो एक-सी बात है, क्योंकि गारा बालक के विकास में मदद देने वाली वस्तु है।

गारे से ईंटें, गोले, लड्डू, तरह-तरह के बर्तन, गाँठिया, गाड़ी, हल, बैल, चड़स, खेली आदि बनाने वाले बालक ये सब बनाने में हृदय में विद्यमान आकारों को मिट्टी के मार्फत व्यक्त करते हैं अर्थात् वे एक तरह की सर्जनात्मक प्रवृत्ति करते हैं। हृदय के अलग-अलग अनुभव अलग-अलग साधनों के मार्फत व्यक्त होते हैं तो अलग-अलग तरह की कलाएँ बनती हैं। मिट्टी के मार्फत व्यक्त होने वाली भावनाएँ क्ले-मॉडलिंग याने मिट्टी का काम नामक कला बनती है। बड़ी उम्र के लोग मोम की मूर्तियाँ बनाते हैं या खिलौने बनाते हैं, यह सब कला का विस्तार मात्र है। गारे के खिलौने इस कला की शुरुआत अथवा कहें मूलाक्षर हैं।

गारे के खिलौने बनाते हुए बालक ज्ञानेन्द्रियों के विकास की परीक्षा देते हैं और साथ ही साथ उनकी उपयोगिता को बढ़ाते हैं। कर्मेन्द्रियों को भी काम में लाकर वे बलवान बनाते हैं। मिट्टी के काम से हाथ की उंगलियों में चीजें पकड़ने की ताकत आती है, उंगलियों की मदद से मिट्टी का काम करने वाली उंगलियाँ विचारों एवं भावनाओं को व्यक्त करने वाली औजार बन जाती हैं। जिस तरह वाद्ययंत्र

बजाने में उंगलियाँ औजार बनती हैं, उसी तरह मिट्टी के काम में भी औजार बन जाती हैं। तार पर ध्वनि के मार्फत गीत की प्रस्तुति में उंगलियों की नाजुक संस्कारिता अत्यावश्यक है, वैसे ही मिट्टी के पिंड से आकार निर्मित करने में भी उंगलियों की शिक्षा अत्यावश्यक है और यह शिक्षण मिट्टी के खिलौने बनाने से शुरू होता है।

खिलौने बनाते-बनाते ही बालक उनके आकारों को और ज्यादा पूर्णता देता जाता है, क्योंकि खिलौने बनाते-बनाते उंगलियों की मार्फत वह अपने अवलोकन और अनुभव को कितनी स्पष्टता के साथ व्यक्त करे, इसकी कला भी सीखता जाता है। अतः गारा चूँथना या खिलौने बनाना महत्त्व की बात है। बालक गंदे हो जाएँगे, अगर इस भय से उनको दूर रखा जाएगा तो बहुत नुकसान होगा। हाथों और कपड़ों के मैला हो जाने का तो इलाज है, परंतु शक्ति कुंठित हो जाने पर अगर बच्चों को सही परिणाम नहीं मिलता तो फिर उसका कोई उपाय नहीं है। हर घर में गारे से खिलौने बनाने की पूरी छूट मिलनी चाहिए और प्रत्येक विद्यालय में ऐसी व्यवस्था उपलब्ध होनी चाहिए।

मिट्टी के खिलौने बनाने देने से प्राथमिक विद्यालयों में एक और लाभ नजर आता है, और वह है बढ़िया अक्षर। इस तरह का एक प्रयोग सफलता से किया गया है, उसी का यह निष्कर्ष है। रेजमाल के अक्षरों पर उंगली फेरने के बदले या अक्षरों को बार-बार घोटने के बदले जब शाला में माटी के खिलौने बनाने का प्रबंध किया गया तो उन बालकों के अक्षरों की बनावट खूबसूरत देखने में आई। इस शाला ने बालकों को अपनी कला-सर्जन-वृत्ति को माटी के द्वारा व्यक्त एवं तृप्त करने का जब अवकाश दिया तो शाला को चिड़िया, मोर, साँप, कबूतर, मछली आदि खिलौने प्राप्त हुए, साथ ही साथ बालकों के हाथों अक्षरों को अच्छा मोड़ मिला। इसका कारण यह था कि बालकों की उंगलियाँ खिलौने बनाने से कलम को बिल्कुल सही ढंग से पकड़ कर वांछित आकार देने में बलवान हो गई थीं। अक्षर की बार-बार घुटाई करने का उद्देश्य भी उंगलियों को मजबूत एवं वांछित आकार बनाने हेतु सक्षम बनाना ही न्यूनाधिक रूप में माना जाता है। अगर अक्षरों की घुटाई करना एक यांत्रिक क्रिया है तो खिलौने बनाना एक सर्जनात्मक प्रवृत्ति है।

मिट्टी के काम में सिर्फ गारे के खिलौनों का ही समावेश नहीं होता। असली मिट्टी का काम तो कुम्हारी-काम है। विद्यालय में होने वाले मिट्टी के काम का जन्म कुम्हारी-कला से ही तो हुआ है। मिट्टी के और काच के तथा पोर्सिलिन के बरतनों-खिलौनों के मूल में कुम्हारी-काम निहित है। कुम्हारी काम इन तमाम कलाओं की प्रारम्भिक कला है। अतः बालकों को कला के मूलाक्षरों के परिचय का लाभ मिलना चाहिए। आज हम अपनी शाला में कुम्हार के कामों में से ईंटें बनाने का काम ही ले सकते हैं। चाक चलाने का काम बालकों के लिए कठिन होने के कारण इसे छोड़ा जा सकता है। लेकिन ईंटें और हाथ से मिट्टी के द्वारा जो कुछ बनाया जा सकता है, उसे विद्यालय में बनाने का अवसर बालकों को दिया जाना चाहिए। गाँवों में तो यह काम और भी बढ़िया ढंग से हो सकता है। कुम्हार के घर से तैयार करके लाई गई मिट्टी से अथवा विद्यालय में ही तैयार की गई मिट्टी से ईंटें बनवाई जा सकती हैं, उन्हें सुखा कर पकाया जा सकता है। ईंटों के आँवे में बालकों द्वारा बनाए गए अन्य खिलौने भी पकाये जा सकते हैं। यह प्रवृत्ति बालकों को बड़ी विशाल प्रवृत्ति के साथ ज्ञान प्रदान करती है। ईंटें बनाने का काम एक योजना बनाकर विद्यालय में चलाया जाए तो फकत ईंटें बनाने में ही बालकों को बहुत-बहुत ज्ञान प्राप्त होगा। वे बड़े उत्साह से, बिना थके, सहज स्वाभाविक रीति से यह ज्ञान प्राप्त करेंगे।

मिट्टी के काम के लिए उत्तम वातावरण रचने की जरूरत है। जिस तरह चित्रकला में बालक को चित्र देखने देते हैं, वैसे ही उन्हें मिट्टी के खिलौने दिखाने के लिए घर में या स्कूल में रखे जाने चाहिए। खिलौनों से खेलते-खेलते बालक उनके आकारों का अच्छा-खासा परिचय ले लेते हैं। उस परिचय का उपयोग फिर वे चित्रकला में और मिट्टी के काम में करते हैं। खिलौनों के ये खेल खिलौने सजाने तथा उनसे शृंगार रचने संबंधी होने चाहिए। उनसे खेले जाने वाले तरंगी खेल नुकसानदायी होते हैं। आलमारी में बंद करके रखे गए खिलौने बालक को कत्तई फ़ायदा नहीं पहुँचाते। हाथी, घोड़ा, बिल्ली आदि खिलौने मिट्टी के काम वाले वातावरण में बहुत उपयोगी रहते हैं। ऐसे खिलौनों का एक वर्ग है, जबकि चाबी वाली मोटरें, ऐरोप्लेन आदि खिलौनों का दूसरा वर्ग है। ये वैज्ञानिक, यांत्रिक सिद्धांतों की जानकारी कराते हैं। इस तरह की वृत्ति के विकास के लिए यह अच्छा वातावरण

है। मिट्टी के काम के लिए मिट्टी के खिलौने ही उत्तम वातावरण हैं; रबड़ के या अन्य पदार्थों के खिलौने निकृष्ट वातावरण देते हैं। खिलौने हमेशा सम्पूर्ण ही हों, ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिए। खिलौने मुख्य रूप से बालकों के मन में यह कल्पना जगाने के लिए हैं कि माटी के द्वारा तरह-तरह के आकार देकर खिलौने बनाये जा सकते हैं। इसके बावजूद श्रेष्ठ कलाकृतियों वाले खिलौनों का वातावरण कम लाभदायी नहीं होता। कलावृत्ति के संस्कार पैदा करने के लिए ऐसे खिलौने सर्वोत्कृष्ट होते हैं। अतः मिट्टी के काम की प्रेरणा देने के लिए माटी के खिलौनों का अच्छा संग्रहालय, प्रदर्शन अथवा पाँच-पच्चीस खिलौने प्रत्येक विद्यालय में होने जरूरी हैं।

मिट्टी का काम सिखाना हो तो अध्यापक पुराने तरीकों से न सिखाएँ। बच्चों को ऐसे मत सिखाएँ कि देखो माटी का गोला कैसे बनाया जाता है, इसके लिए हथेली और उंगलियों को कैसे रखा जाता है। गोले को इस तरह से चौकोर आकार दिया जाता है, गोले को काट कर रख दें तो शंकर बन जाते हैं, लंब गोल किया तो अंडा बन गया, अर्द्ध लंबगोल किया तो चौसर की गोटी बन गई, चौकोर आकार के नीचे चार थंबे लगा दिए तो टेबिल बन गई, इस तरह बालक को बता-बताकर नहीं सिखाना चाहिए। यह तो व्याकरण की विधि से भाषा सिखाने जैसी विधि है। यह विधि मनोविज्ञान द्वारा मान्य नहीं है। यह सही है कि इस तरीके से कुछ आकार बनाना बालक जान जाता है, कारीगरी की दिशा में उसका थोड़ा-बहुत दखल भी हो जाता है, यह भी संभव है कि कोई स्वयं को कारीगर कहलाने की हद तक पहुँच जाए। पर इस विधि से कलाकार तो हर्गिज नहीं बन सकता। जिन्हें हम कलाकार कहते हैं वे तो इस विधि से बाहर निकल कर ही बने हैं और बनते हैं।

मिट्टी का काम अर्थात् मिट्टी के पिंड द्वारा मन में रहने वाले किसी आकार को स्थूल रूप में बनाना। कलाकृति की वस्तु सबसे पहले कलाकार के हृदय में उद्भूत होती है, बाद में वह अंतर-बाह्य हेतु के द्वारा उपकरणों और कारीगरी की मदद से उसे मूर्त स्वरूप प्रदान करता है। जहाँ ऐसा होता है वहाँ कला का आविर्भाव होता है, परंतु जहाँ शिक्षक कहे और बालक तदनुसार मिट्टी का पिंड रखकर आकार देने लगे, शिक्षक जैसा करे वैसा आकार देने लगे तो वहाँ यांत्रिक क्रिया विद्यमान रहती है। वहाँ बाहर की वस्तु को बाहर से रूप देने का आग्रह रहता है। शिक्षक बताये, तदनुसार बालक भिंडी या तुरई का अवलोकन करे,

शिक्षक समझाये, तद्नुरूप देख-देख कर बालक वैसा आकार बनाये, तो उसमें बालक का अपना सर्जन कहाँ रहा ? उसके हृदय में ऐसी कौनसी वस्तु थी, जो मिट्टी के पिंड के मार्फत व्यक्त होना चाहती थी ? क्या मिट्टी मिलते ही वह वस्तु व्यक्त होने लगी ? जहाँ नकल करके बच्चे मिट्टी के खिलौने बना लेते हैं वहाँ वे एक ही ढंग के आकार गढ़ने वाले मजदूर जैसे कारीगर ही होंगे। नकल बनाने वाला कारीगर होता है, पर उसकी देखा-देखी अनगिनत खिलौने बनाने वाला व्यक्ति तो एक भाड़ेती मजदूर होता है।

मिट्टी के काम का मैं एक अलग उद्देश्य मानता हूँ। हमें बालक के अंतर्मन में जो व्यक्त करने का है, उसे मार्ग देना है। बालक अनेक तरीकों से अपने अंतःकरण को व्यक्त करता है; कोई शब्दों से, कोई तूलिका से, कोई छेनी से तो कोई स्वर से। बहिर्जगत की सामग्री और व्यक्त करने के साधन मिल जाएँ तो जो व्यक्त होना है वह अपने-आप प्रकट हो जाएगा। बालक के हाथ में पेंसिल और कागज देंगे तो उसके मन में अगर मोर नाच रहा होगा तो वह मोर चित्रित करेगा, और अगर गधा खेल रहा होगा तो वह गधे को चित्रित करेगा। इसी तरह अगर उसे मिट्टी का काम दिया जाएगा तो परिणाम सामने आएगा।

इसीलिए हमें बालक को माटी देनी चाहिए, माटी को काम में लाने हेतु लकड़े के पट्टे, माटी उखाड़ने के लिए लोहे की पत्तियाँ, गंदे हाथ धोने के लिए पानी और तौलिया आदि सामग्री देनी चाहिए। इसके साथ ही लकड़ी के पट्टे कहाँ से लाने, कहाँ रखने, कैसे रखने आदि बातों की व्यवस्था भी बतानी चाहिए। माटी को कैसे उखाड़ें कि वह जल्दी उखड़े, इस बारे में भी पूरी व्यवस्था बताई जाए और तब बालक को मिट्टी का पिंड दिया जाए कि देखें वह उसका क्या करता है! बालक अपने आप पसंद की कोई चीज बनाएगा। छोटे बच्चे, जिन को घर की चीजें—यथा बेलन, पीढ़ा, तवा, थाली, झारी आदि का अति परिचय हो चुका है, वे वैसे ही खिलौने शुरू-शुरू में बनाते हैं। हमें ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिए कि बालक अमुक वस्तु ही बनाए। अपने प्रखर अवलोकन को वह माटी के माध्यम से व्यक्त करेगा ही। ऐसे अवलोकन उसके आसपास की दुनिया के हैं, ऐसा लगेगा; वातावरण की छाप कितनी दृढ़ पड़ती है यह समझ में आएगा; और बालक के मन का प्रतिबिम्ब भी उसमें पड़ेगा।

मिट्टी का काम बालक को कोई प्रवृत्ति देने के लिए नहीं है। प्रदर्शन के लिए नमूने तैयार करने हेतु भी यह प्रवृत्ति नहीं है। मिट्टी के काम का उद्देश्य बालक की सर्जनात्मक वृत्ति को मिट्टी के द्वारा व्यक्त होने देना है। इसके लिए बालक को प्रवृत्ति मिलेगी, उसकी एकाग्रता दृढ़ होगी, हाथों के स्नायु पुष्ट होंगे, मिट्टी की मिलावट का उसे थोड़ा-बहुत ज्ञान होगा—ये तमाम अवांतर लाभ हैं। मुख्य लाभ तो सर्जक वृत्ति को होने वाला संतोष है।

सभी बालक मिट्टी के काम में रुचि लेंगे, ऐसा नहीं होगा; उनमें भी रुचि-भेद दिखाई देगा। इस रुचि-भेद को अवकाश देना हम शिक्षकों का दायित्व है।

जिस तरह चित्र संबंधी काम में वातावरण की जरूरत पड़ती है, उसी तरह मिट्टी संबंधी काम में भी वातावरण की जरूरत है। इसके लिए मिट्टी के, पत्थर के, धातु के, दाँत के और लकड़ी के तरह-तरह के खिलौनों और नमूनों का अच्छा संग्रहालय मिट्टी के काम वाले कक्ष में हो तो उपयोगी रहेगा। कुम्हार के बर्तन, मिट्टी के देसी खिलौने आदि बालकों को उपयोग में लाने हेतु दिये जाने जरूरी हैं। मिट्टी के काम की बुनियाद में रेखा और आकार की समझदारी के लिए चित्र-अवलोकन भी वातावरण के बतौर उतना ही महत्त्व रखता है। ❑

चौथा प्रकरण

कागज और कैंची

बालक कागज और कैंची हाथ में आते ही घंटों तक इन्हें काम में लाते हैं। हाथ में कैंची पकड़ने और कागज काटना सीखने की क्रिया सिद्ध करने के लिए बालक बिना थके बहुत देर तक अपना हाथ हिलाते रहते हैं। यह क्रिया सिद्ध हो जाने पर उनके हाथ में कैंची पकड़कर कुछ काटने का नियंत्रण आ जाता है। इस नियंत्रण के बाद बालक हर चीज काटने दौड़ पड़ता है और कागज, कपड़ा, पत्ते आदि काटने के उत्साह में कई बार माता-पिता को चिढ़ाता है। पर अगर माता-पिता समझते हों कि कागज और कैंची भी शिक्षा का एक साधन है, बालक में एकाग्रता पैदा करने का सुंदर तत्त्व है, तो वे जरूर बालकों को रद्दी के या अन्य कागज व कैंची देकर घर में उनके लिए एक कोना तय कर दें और बालकों को तथाकथित उपद्रव से मुक्त कर लें। जब बालकों को कुछ न कुछ प्रवृत्ति मिल जाती है तो वे शैतानियों से अपने आप मुक्त हो जाते हैं। प्रवृत्ति द्वारा कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों को काम में लगा देती हैं, काम में लगते ही वे एकाग्र हो जाती हैं, और एकाग्रता में वे आसपास की परिस्थिति को भूलकर शांत और स्वस्थ बन जाती हैं। इस दिशा में बालक माता-पिता को सयाने लगते हैं। परिणामस्वरूप बालक बलवान, प्रसन्न तथा माता-पिता के प्रति उपकार की भावना से युक्त एवं प्रेमिल बनते हैं। इस तरह की प्रवृत्ति को शिक्षाशास्त्र सर्जनात्मक प्रवृत्ति के नाम से पुकारता है; तथा कागज व कैंची का काम एक ऐसी ही सर्जनात्मक प्रवृत्ति है।

जब बालकों के सामने सुस्पष्ट रूप से लकीरें खींचे हुए अथवा स्पष्ट आकृतियों वाले कागज रखे जाएँगे तो उनकी यह प्रवृत्ति अधिक हेतुलक्षी बन जाएगी। कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग अधिक व्यवस्थित व स्पष्ट बन जाएगा, क्योंकि इसमें बालकों को ज्यादा काटना नहीं पड़ेगा, फकत अमुक रेखा का ही अनुसरण करके काटना होगा। इससे बालक की सर्जनात्मक वृत्ति अधिक गहरे जाएगी तथा उसकी एकाग्रता व आनंद का प्रकार बढ़ता जाएगा।

शिक्षण के क्रम में पहले-पहल कागज-कैंची का मात्र उपयोग कराने के पश्चात् निश्चित दिशा में कागज पर चित्रित चित्र काटना यह दूसरा चरण होगा।

छपे हुए चित्रों को काटकर निकालना भी दूसरे चरण में आएगा। यह दूसरा चरण सिद्ध करने में बालक को रेखा का अनुसरण करना पड़ता है तथा इसके साथ उसे चित्र अथवा रेखाकृति को काटने के उपरांत रेखाकृति या चित्र की रेखा-मर्यादा का अभ्यास करना पड़ता है या फिर उसे अभ्यास हो जाता है। इस तरह चित्रकला के साथ कागज-कैंची का काम जुड़ जाता है।

इसी भाँति पतंग, कागज के दीपक, कागज के पंखे आदि कागज के खिलौने बनाने में बालक को कागज व कैंची का ध्यानपूर्वक उपयोग करना पड़ता है। इनमें भी बालक की सर्जनात्मक वृत्ति के विकास की गुंजाइश है। कागज के फूल बनाना, तोरण बनाना, गजरे बनाना, पाकेट बनाना, नाव, दवात, टोपियाँ आदि बनाने का काम तीसरे प्रकार की प्रवृत्ति के अधीन आ सकता है। दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति में जिस तरह खिंची हुई आकृति अथवा चित्र बालक को स्वयं-प्रवृत्ति करने की दिशा बता रहे थे, उसी तरह इस तीसरे प्रकार में पतंग, फूल आदि के नमूने बालक को प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करेंगे। पर ये नमूने कैसे बनाये जाएँ, यह तरीका एक बार बड़ों को करके बताना होगा। बड़ों को भी करके बताते समय बालकों को दृष्टि ही प्रदान करनी है। पूर्णता एवं सुंदरता के साथ बालक काम न कर सकें तो उन्हें न करने देना, ऐसा विचार उसकी सर्जनात्मक प्रवृत्ति के विकास में हमेशा बाधक सिद्ध होता है। अतः बड़ों को चाहिए कि एक बार दिशा बता देने के पश्चात् बच्चे अगर कागज बिगाड़ते हैं तो बिगाड़ने दें, पर उन्हें काम को पूरा करने का तरीका अपने आप प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दें। बालक अवश्य ही अपने-आप काम सीख लेगा।

इस तरह के काम बालक अपनी दृष्टि को सुंदर एवं पूर्ण बनाने हेतु चाहते हैं। पर पूर्णता और सुंदरता का स्तर हमें अपनी दृष्टि के अनुसार उनसे नहीं माँगना चाहिए, ज्यों ही उनकी दृष्टि परिपूर्ण होगी कि वे स्वतः आगे बढ़ जाएँगे। सुंदरता और पूर्णता का आग्रह रखते हुए हमें बालक को टोक-टोक कर छोटे-छोटे नियम नहीं बताने चाहिए, अपितु एक बार प्रेरणा जगाने के बाद बालक को खुला छोड़ देना चाहिए।

कागज और कैंची का इस तरह होने वाला उपयोग बालक को कपड़े ब्यौंतने की तरफ भी ले जाता है। दरजी भी ब्यौंतना सिखाने से पहले कागज पर ही

ब्योंतना सीखते हैं। गुड्डों के खेल को हम आज ज्यादा प्रश्रय नहीं देते क्योंकि उससे बालकों की कल्पनाशीलता को पोषण मिलने की बजाय मन की बहक को पोषण मिलता है। पर अगर गुड्डे-गुड़ियाँ कागज-कैंची के काम अथवा सिलाई के काम हेतु नमूना बनाये जाते हैं तो फिर कोई हर्ज नहीं है। बालक अपने छोटे भाइयों के लिए कागज के झबले-टोपी-पजामा आदि बनाने के लिए कागज-कैंची का उपयोग करे तो वह सर्वथा उत्तम है। जानकारी देते हुए बालकों को यह दिशा बताई जा सकती है, पर अगर ऐसा संभव न हो तो इस काम के लिए खरीदे हुए खिलौने भी उपयोग में लाये जा सकते हैं। खिलौने के कपड़े बनाने में मन की बहक नहीं होती अपितु वास्तविकता होती है। इस सीमा को लाँघकर जब खिलौनों से मन की बहक के खेल खेले जाते हैं तो उनके माध्यम से जिसे वास्तविकता की हमें उपेक्षा होती है, उसे प्रदान करने में तरंग-विकास बाधक रहता है।

रंगीन अथवा सफेद कागज से बालक शृंगार की चीजें भी बना सकते हैं। कागज की पट्टियाँ काटकर तथा उनसे तरह-तरह की आकृतियाँ बनाकर बालक जमीन पर पट्टी-रांगोळियाँ निर्मित कर सकते हैं। रेखा के द्वारा सर्जन का भी एक प्रकार है। कागज की पट्टियाँ भी तो एक तरह की रेखाएँ ही हैं। जापानी खिलौनों में इस तरह का पट्टी द्वारा शृंगार प्रचुर मात्रा में हैं। गृह-उद्योग विकसित करने में पट्टी-सज्जा का विकास बढ़ाया जाए। इसके लिए बड़ों को नई-नई दिशाएँ दिखानी चाहिए। पट्टियों से ही बालों में लगाने की 'बो' बनाई जाती है। इस तरह के कामों के लिए कागज-कैंची का काम विद्यालयों में स्वीकार किया जा सकता है।

रंगीन कागजों में नक्काशी करना एक और प्रवृत्ति है। कैंची से कागज में डाली हुई नक्काशी बहुत सुंदर लगती है। उसकी विविधता अनंत है। प्रत्येक तरह की नक्काशी नवीन, अद्वितीय और कारीगरी के प्रभाववाली लगती है। ऐसी नक्काशियाँ बनाने वाला व्यक्ति अगर दिमाग से सोच कर पहले से तय करके करे तो उस नक्काशी का मूल्य बहुत बढ़ जाए! परन्तु बात यह है कि इन नक्काशियों में दिखाई देने वाली आकर्षक, मनोरम कारीगरी एक रीति से कहें तो आकस्मिक है। कागज को मोड़ने के बाद अलग-अलग रीति से उसमें कैंची से काटने पर जो आकृति उभरती है उसकी सुंदरता उसकी घटना में है, अर्थात् कागज के जितने मोड़ किये जाते हैं, मूल कटाई के उतने ही पुनरावर्तन दिखाई देते हैं और इसीलिए वे

रम्य लगते हैं। पर मूल कटाई के पीछे किसी सुनिश्चित कला का स्तर नहीं होता, मूल कटाई आकस्मिक है, अर्थात् काटने वाले को जैसे ठीक जंचता है वैसे ही वह इधर-उधर त्रिकोण, गोल, चौरस आदि आकारों में कटाई करता है। काटने वाला जानता भी नहीं कि कागज के मोड़ खोलने पर आकृति कैसी दिखेगी। अतः इस तरह का काम उपर्युक्त वर्णित सर्जनात्मक कामों से निम्न स्तर का है, हालाँकि इसका परिणाम तो सुंदर है। इसमें घुणाक्षर-न्याय से कुछ अंशों में सर्जन होता है।

बावजूद इस तरह की कटाई को कला-सज्जा में तथा सर्जन प्रवृत्ति में स्थान तो है ही। नवरात्र की गरबी माताओं की इस तरह की नक्काशी से बहुत अच्छी सज्जा की जाती है। माताएँ बहुत सुंदर लगती हैं। बालकों को कलाकृति का सुंदर नमूना देखने को मिलता है। देखने से कला का परिचय होता है तथा उसमें से उपजने वाला आनंद उन्हें मिलता है।

कई बार मोची अपनी आरी से या कोई अन्य कैंची से ऐसे सृजन करता है। बहुधा बार-बार यह काम करने से किस तरह की कटाई की जाएगी तो कैसी नक्काशी उभरेगी, यह बात उसके ध्यान में आ जाने से वह सोचे मुताबिक निश्चित ढंग की नक्काशी हमें कर देगा। गरबी माताओं में इसी तरह की निश्चित नक्काशियाँ होती हैं फिर भी सर्जनात्मक दृष्टि से उनका मूल्य ज्यादा नहीं होता क्योंकि ये सुनिश्चित नक्काशियाँ अनिश्चित स्तर पर बनाई जाती हैं।

इस तरह का कैंची-कार्य करने वाला बालक शायद ही एक बार बनाई गई नक्काशी सोच-समझ कर दुबारा बना सकेगा। कारण यह है कि इस तरह की नक्काशी का स्तर अनिश्चित है और इसी से इसमें पर्याप्त वैविध्य रहता है। जिस तरह केलिडायस्कोप के भीतर कांच के रंगीन टुकड़ों के द्वारा अनेक रंगीन घटना चित्र बनते हैं परन्तु वे केलिडायस्कोप को घुमाने वाले के निश्चय से नहीं बनाते अपितु कांच के टुकड़ों को अमुक रीति से रखा जाए तो अपने आप चित्र बनता है, वैसी ही बात कैंची से बनाई जाने वाली नक्काशी के साथ है।

यह कैंची-कार्य बालकों को बहुत अच्छा लगता है, इसमें कोई शक नहीं। भले ही बालक जितना करना चाहें खुशी से करें। बालक कोई काम तभी तक करता है जब तक उसे उससे कुछ प्राप्ति हो। जैसा कि ऊपर लिखा गया है बालकों

को इस काम से ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों को उपयोग तथा परिणाम देखने से कला-सर्जन का परिचय तथा आनंद तो मिलता ही है। जिस तरह बालक केलिडायस्कोप देखते कभी तृप्त नहीं होते उसी तरह यह कैंची-कागज की प्रवृत्ति करते भी वे कभी तृप्त नहीं होंगे।

लेकिन केलिडायस्कोप में बनने वाले चित्रों को जिस तरह बालकों का सृजन नहीं कहा जा सकता, वैसे ही इस नक्काशी को भी इतने अधिक अंश में नहीं लेकिन थोड़े अंश में बालकों के सृजन के बतौर ठहराया जा सकता है।

हमारे आजकल के बाल-सर्जन के प्रदर्शनों में नक्काशी के ऐसे कामों को बालकों की रचनाशीलता कहकर बताया जाता है। पर इनको देखने वालों को यह समझना चाहिए कि इस सर्जन की मूल्यवत्ता कितनी है। यह ऐसा काम नहीं है कि जिसे छोड़ दिया जाए। परंतु बालक स्वयं चित्र बनाएँ या मिट्टी का काम करें, या सिलाई का काम करें या कैंची से रेखाकृतियों को काटें, इनकी तुलना में वह बढ़कर नहीं है। कलात्मक बालक ऐसे काम करते हैं या ऐसे काम द्वारा बालक कलात्मक अभिरुचि-सम्पन्न बन जाते हैं, ऐसे निर्णय पर पहुँचना गलती होगी। कागज पर कैंची चलाने वाले तमाम बालकों में इस तरह के काम करने की संभावना है। अलबत्ता यह जानते हुए कि आकस्मिक रूप से ऐसा होता है, जो बालक जानबूझ कर ऐसी आकस्मिकताएँ करते हैं और विविध नक्काशियाँ तैयार करते हैं, और ऐसी नक्काशियाँ तैयार करने में यह समझ रखते हैं कि नई-नई आकस्मिकताएँ करनी चाहिए, वे बालक कलात्मक सर्जन-दर्शन के शौकीन हैं, यह स्वीकार करना ही चाहिए। अतः इस काम की कीमत आँकने के लिए शिक्षक या माता-पिता के सामने साफ-सुथरी दृष्टि रहनी चाहिए।

रेखाओं से काटकर निकाले गये इस तरह नक्काशी करके बनाए गए चित्रों को दूसरे कागज पर चिपकाना भी एक अलग व उपयोगी प्रवृत्ति है। नक्कासी को, खासतौर से रंग-बिरंगे कागजों पर चिपकाने से नक्काशी का सौंदर्य बहुत अच्छी तरह से बालकों की आँखों को आकृष्ट करता है, तथा बालकों को अधिक से अधिक कलाप्रेमी बनाता है। नक्काशियों को कोरे कागज पर रखकर उनके अंदर पेंसिल फेरते हुए आकारों को उभारा जाए तो बालकों को आकृति उभारने का लाभ भले ही

मिले, परन्तु वैसा करने से बालकों का आकृति परिचय अधिक गहरा होता है अर्थात् बालकों को नक्काशी का दर्शन अधिक स्पष्ट रूप से होगा।

कागज और कैंची के अन्य उपयोग भी बालकों के सामने प्रस्तुत किए जा सकते है। उदाहरणार्थ कागज काटकर छोटी-छोटी नोटबुक बनाना, कागज काटकर उन्हें मोड़कर नलियाँ बनानी आदि। थोड़ी कैंची की मदद से और थोड़ी हाथ की मदद लेकर पेपर फोल्डिंग अर्थात् कागजों को मोड़ना और छोटे-छोटे खिलौने बनाने की प्रवृत्ति, कैंची, नाव, छुरी, दवात, टोपी आदि आकार इस किस्म के नीचे आते हैं। इसकी शैक्षिक मूल्यवत्ता नक्काशी की कीमत से भिन्न है। इसमें कागज से निश्चित आकार रचने होते हैं। और जितने आकार सामान्यतया बनते हैं उतने आकार बनाने आ जाएँ तब तक बनाते रहने में सर्जनात्मक मूल्यवत्ता है, पर बहुत कम प्रतिशत की। कारण यह है कि दक्षिणी रांगोली की भाँति इसमें दृष्टि और ज्ञान दोनों चाहिए, फिर भी निश्चित नियमों के अनुसार करने पर ही सर्जन होता है, अर्थात् सर्जन यंत्रवत् बन जाता है। छुरी या टोपी कैसे बनती है, एक बार इसकी रीति सिद्ध हो जाने पर इनमें कोई विशेषता याकि नवीनता शेष नहीं रह जाती। अगर किसी में व्यापारी बुद्धि हो तो अधिक मात्रा में बनाने का उद्योग किया जा सकता है, पर विद्यालय में इस तरह की व्यापारिक बुद्धि से उद्योग विकसित करने का सवाल नहीं उठता। वैसे विद्यालय में कोई बालक चाहे जितनी (सैकड़ों) टोपियाँ, कैंचियाँ, छुरियाँ बनाना चाहे तो उसे करने दें। कैंची बनाने में जितनी शैक्षिक मूल्यवत्ता है उससे अधिक मूल्यवत्ता उसे बनाने हेतु किए जाने वाले पुनरावर्तन में है। विकास का बहिर् लक्षण पुनरावर्तन है।

पतले कागजों की बजाय मोटे कागज अर्थात् कार्ड बोर्ड और कैंची भी बालक को प्रवृत्ति और विकास दोनों प्रदान करती हैं। कार्ड बोर्ड से बालक बंगला, कमरा और मकान के उपस्कर की छोटी-छोटी चीजें बना सकते हैं। हमें बालकों को कार्ड बोर्ड कागज, कपड़े के टुकड़े तथा गोंद उपलब्ध कराना चाहिए तथा उनमें ऐसी कल्पना जगानी चाहिए ताकि इनकी मदद से वे खिलौने बना सकें। बच्चों को कुछ ऐसे खिलौने दिखाए भी जा सकते हैं। उन्हें देखकर बच्चे अपना ज्यादा से ज्यादा समय तरह-तरह के खिलौनों के नमूने बनाने में बिताएँगे, और बेशक इस प्रवृत्ति द्वारा वे बहुत-बहुत सीखेंगे। पहले तो वे अपनी विकसित ड्राइंग-शक्ति का

उपयोग करेंगे। कैंची को काम में लेने की नियंत्रण शक्ति उनके लिए मददगार रहेगी। बालकों को इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव होगा कि कागज पर पेंसिल द्वारा रेखाचित्र से जो उभर सकता है, वह घन आकार में भी उभर सकता है अर्थात् यह काम उनको मिट्टी के काम और विशेष रूप से सुथारी के काम की दिशा स्पष्ट रूप से दिखाएगा। सुथारी के औजारों को काम में लाये बिना अथवा बहुत थोड़े और नुकसान न पहुँचाने वाले औजार काम ला कर कैंची, करौती और कार्ड बोर्ड द्वारा बालक अपने कमरे में या विद्यालय में सुथार की खतौड़ (जहाँ सुथार काम करता है) अथवा फर्नीचर की दुकान खड़ी कर सकेंगे।

इस तरह के कार्ड बोर्ड से निश्चित नमूनों के अनुसार नमूने तैयार करना सीखने के काम को स्लाइड का काम कहा जाएगा। शिक्षण में स्लाइड पद्धति ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय के साथ-साथ बौद्धिक-विकास तथा हाथ की कारीगरी के ज्ञान हेतु उपयोगी मानी जाती है।

पर शिक्षण के आधुनिक सिद्धांत बालकों से सम्पूर्ण काम माँगने का आग्रह नहीं रखते। उनके लिए बालकों द्वारा अपनी ही मेहनत से स्वतः अपने ज्ञान के आधार पर जैसा भी रफ काम बना हो, उसका मूल्य अधिक है, जबकि स्लाइड में पूर्ण नमूना बनाने का आग्रह अधिक रहता है। इस आग्रह में बालकों द्वारा त्रुटियाँ करके सीखने की गुंजाइश नहीं होती। त्रुटियाँ न हों, इस तरह काम करना होता है अतः निश्चित सूचना-निर्देश और देखरेख में काम करना पड़ता है। अतः नतीजा यह होता है कि परिणाम बालक की सर्जनात्मक प्रवृत्ति को यश देने की बजाय सूचनाओं और देखरेख को यश देता है। काम का एक नमूना तो बन जाता है पर बालक को काम का आनंद नहीं मिल पाता। बालक का आनंद तो जहाँ त्रुटियाँ होती हों और इसके बावजूद उन्हें सुधारने का जहाँ मौका मिलता हो और उस मौके के मुताबिक भूलें सुधारने से पल-पल बालक को प्रगति का संतोष मिलता हो, वहाँ रहता है।

स्लाइड में बालकों को पुनरावर्तन करने की छूट नहीं रहती। बालक को एक पूर्ण नमूना बनाना होता है। अलबत्ता नमूना तो बन जाता है परंतु ध्यान देकर कि कहीं गलती न हो जाए, बालक को सूचनाओं और देखरेख के नीचे काम करना पड़ता है, अतः उसमें पुनरावर्तन की गुंजाइश नहीं रहती। अतः नमूना बन जाने पर भी

बालक में नमूना बनाने की फुर्ती, होशियारी व कुशलता आ नहीं पाती। कुशलता तो पुनरावर्तन से आती है, फुर्ती भी उसी से बढ़ती है, जबकि स्लाइड में पुनरावर्तन का अभाव रहता है। इसका परिणाम यह आता है कि बालक इससे कारीगर नहीं बन पाता, क्योंकि पुनरावर्तन के द्वारा बालक की कारीगरी का क्षेत्र दृढ़ नहीं हो पाता। किसी भाषण को रटकर बोलने में जितना भाषा-ज्ञान होता है, जितनी वक्तृत्त्व-कला विकसित होती है उतनी ही नमूने ध्यान में रखकर सुंदर नमूने बनाने में हाथ की कारीगरी की शक्ति आदि विकसित होती है।

बेशक कार्ड बोर्ड और कैंची से तरह-तरह के खिलौने बनाने में बालक को लाभ ही है। पर यह लाभ तभी है जबकि बालक को मर्जी के मुताबिक सभी तरह के अनेक खिलौने बनाने की पूरी छूट हो तथा अमुक नमूनों के मुताबिक और अमुक समय में ही देने का आग्रह न हो।

इस तरह कागज-कैंची का बालक के हाथ में बहुविध प्रयोग संभव है। इसमें महत्त्व की दृष्टि खास एक ही है कि इनके द्वारा जो भी बनाया जाए, उन्हें बनाने दे, वे जो कुछ बनाते हैं, उसे देखें, उनके बीच में न आएँ; और उनकी पूरी विगत रखकर कागज-कैंची द्वारा बालक का विकास और कलात्मक वृत्ति का आविर्भाव किन-किन रूपों में संभव है, इसका अध्ययन करें। ❑

पाँचवाँ प्रकरण

रांगोली

दिवाली के दिनों आँगन में तथा देहरी में गोबर की लिपाई करके उन्हें सजाने-सिणगारने का रिवाज बहुत पुराना है। चालीस वर्ष पहले मेरी माता, चाची, दादी और भाभी को मैंने गोबर लिपे आँगन में अंगूठे और तर्जनी की चुटकी में कूँकूँ लेकर स्वस्तिक, देवों के चरण और कमल बनाते देखा था। गोला बनाने के लिए सुपारी रखकर उस पर कूँकूँ बुरकाया जाता था। उसके द्वारा लिपे हुए आँगन की किनारी और कोनों को सजाया जाता था। धुली हुई देहरी पर भी इसी भाँति सुपारी के वर्तुल बनाये जाते। दो-दो वर्तुलों के बीच में एक-एक फूल रखा जाता था। सोकर उठने से पहले ही तैयार कर दिये गए इस शृंगार को देखकर मन आनंदित हो जाता था। हमें कहा जाता था : 'इस पर पैर रखकर मत जाना।'

एक बार पड़ोस में एक शहरी आकर बसा था। वह अपने साथ भावनगर के व्यापारी द्वारा तैयार किए गए छापे लेकर आया था। अगली दिवाली पर हमारी भाभी ने छापों में कूँकूँ, गुलाल और चूना डालकर पाँच ही मिनट में छापों के संचों द्वारा रांगोली बना ली। छलनी से जिस तरह आटा गिरता है, उसी तरह संचों में से रंग गिर-गिरकर छापों में खुदे आकार की जमीन पर रचना कर रहे थे; हाथी; घोड़े, फूल, फव्वारे आदि फौरन बिना मेहनत के बन रहे थे। पहले पौन घंटे में बनने वाली रांगोली पंद्रह मिनट में बन गई। बहन और भाभियों के हाथों को थोड़ा-बहुत आराम मिला। नवीनता को लेकर सुंदरता दिखाई दी, श्रम भी कम हुआ अतएव भाभियों को अच्छा लगा।

कुछ वर्षों बाद शहर में आकर देखा कि चारों ओर इसी तरह की रांगोली हो रही थी। पारसी के घर की सीढ़ियाँ तो इसी रांगोली से हमेशा शोभायमान रहती थीं। पुराने जमाने वाली रांगोली तो शहर के किसी भी घर में नहीं रह गई थी। दिवाली पर व्यापारियों का संचों का व्यापार बढ़ गया था। देसी व्यापारी परदेश से आए पतरों में तरह-तरह के आकार बना रहे थे। इन छापों ने पुराने ढंग की रांगोली को अंतिम विदाई दे दी थी।

लोग-बाग देश-परदेश घूमने लगे तो दक्षिण के लोग भी गुजरात में आए और बहुत वर्ष यहाँ रहे। उनके पास रहने से कई संस्कारी घरों में दक्षिणी रांगोली ने अपना स्थान बनाया। पर दक्षिणी रांगोली बनाने में वहाँ की स्त्रियाँ जितनी मेहनत करती हैं और जिस उत्साह से बनाती हैं, वे बातें गुजराती स्त्रियों में नहीं थीं, इस कारण गुजरात में उसका बहुत अधिक प्रचार नहीं हो पाया।

धीरे-धीरे गुजरात में चित्रकार पैदा हुए। उन्होंने रांगोली को नई दिशा प्रदान की। गत्तों में खुदाई करके तरह-तरह की नक्काशियाँ बनाईं। खुदे हुए पुट्ठों को जमीन पर रखकर उन पर रँग फैलाने से रांगोली बनाने का सिससिला शुरू हुआ। यह तरीका रांगोली का विकसित रूप कहा जा सकता है।

शौकीन व्यापारियों ने इस अंतिम तरह की रांगोली को लक्ष्मी पूजन के दिन अपनी दुकान के सामने वाले मार्ग पर धूमधाम से जमाया और मार्गों को बिजली की रोशनी में रंगों से रंग डाला। इसके साथ ही गाँव में तरह-तरह के रांगोली के चिरोड़ी (एक प्रकार का पत्थर) मिश्रित विचूर्ण बिकने शुरू हो गए।

चित्रकार आगे बढ़े; वे बंगाल व अन्य प्रदेशों में घूम आए और उन्होंने रांगोली को संचों से मुक्त किया। वास्तविक रीति से तथा दक्षिणी रीति से कूँकूँ, गुलाल, चूने आदि से विचूर्ण को अंगूठे-उंगलियों की चुटकी में पकड़कर मनोकल्पित व मनोरम चित्र जमीन पर उभारे जाने लगे, अर्थात्, जमीन पर रंगों के विचूर्ण से चित्रलेखन करना ही रांगोली बना। आजकल दिवाली के दिनों में इस तरह की रांगोली संस्कारी घरों के आँगन में हमें देखने को मिलेगी।

संस्कारी चित्रकारों के हाथों में रांगोली और आगे बढ़ी। पत्थर की जमीन पर या गारे पर पानी के रंगों से रूई की पूनी द्वारा रांगोली चित्रित होने लगी। रांगोली अर्थात् रंग द्वारा जमीन पर बने भूमि-चित्र। अभी तक रांगोली उत्सव के प्रसंग पर घरों में या रास्तों पर ही था। अलबत्ता देवमंदिरों में—कृष्ण मंदिरों में रांगोली के विविध स्वरूप जो कितने ही अर्से से चले आ रहे थे, उन्हें छोड़ दें तो पिछले दशक में रांगोली ने कला-मंदिरों, सम्मेलनों और बाल-शालाओं में, कहीं-कहीं विनय-मंदिर में भी प्रवेश किया। आजकल अच्छी मोंटेसरी शालाओं में रांगोली को चित्र विभाग के साथ जोड़कर कला-विकास का एक अंग बना दिया है। बालकों का

जब भी मन होता है या कोई खास प्रसंग आता है तो अपने ज्ञान के आधार पर वे रंगों के विचूर्ण से भूमि-चित्र बनाते हैं; बिगाड़ते हैं, बार-बार रचते हैं। बाल शालाओं में रांगोली के विकास का सवाल उठाए बगैर आइए जरा प्राथमिक शालाओं में रांगोली पर विचार करें।

पहले ही मैं यह बात साफ कर दूँ कि गत्तों वाली रांगोली, रांगोली नहीं है, फकत आभास मात्र है। उसमें सृजन के तत्त्व नहीं होते, महज यांत्रिक क्रिया की उपज होती है। और कुछ नहीं तो विद्यालय में कला का शिक्षण सृजनात्मक दृष्टि से ही होना चाहिए। गत्तों के संचों द्वारा रांगोली बना कर पूरे विद्यालय को शोभायुक्त किया जा सकता है और बालकों को भी लगेगा कि उन्होंने रांगोली बनाई। पर सच पूछें तो बालकों ने वहाँ कलाकार के बतौर कुछ भी सृजन नहीं किया अपितु रंग की पोटलियाँ उठाने वाले मजदूरों का काम किया। कला मजदूरी की माँग करती है, पर निरी मजदूरी कला नहीं कहलाती।

प्रारम्भिक और अंतिम रांगोली के स्वरूपों को विद्यालयों में दाखिल किया जा सकता है। जिस प्रकार चित्रकला बालकों और बालिकाओं दोनों के लिए है, उसी प्रकार रांगोली भी दोनों के लिए सामान्य है और होनी भी चाहिए।

रांगोली स्वतः चित्रकला नहीं, न ही चित्रकला का विशिष्ट स्वरूप है, परंतु इसमें चित्रकला के ज्ञान का विशेष और नवीन उपयोग है। इस हद तक रांगोली स्वतः सर्जन नहीं है, पर चित्र की सृजन-वृत्ति को अधिक व भिन्न रीति से अवकाश और गति देने का साधन है। मनुष्य ने अपनी एक ही शक्ति को अलग-अलग स्वरूपों में देखना पसंद किया है, और इस तरह मूलभूत अथवा बुनियाद रूपी कलाओं के सायों अथवा प्रतिबिम्ब स्वरूप अनेक कलाओं का मनुष्य के आनंद के लिए विकास किया है।

प्राथमिक शाला में चित्रों का शिक्षण पहले हो। इसके बगैर रांगोली का शिक्षण नींव के बिना मकान बनाने की चेष्टा जैसा है। चित्र सर्जन-शक्ति को जिन अनेक तरीकों से व्यक्त किया जा सकता है, उसमें से इस एक तरीके को चित्र-शिक्षण के पश्चात् विकसित करने की अच्छी अनुकूलता यहाँ उपलब्ध होती है। अलबत्ता, चित्र-शिक्षण के अभाव में रांगोली के शिक्षण को अवकाश तो है ही;

परंतु वह निम्न कोटि का कहा जाएगा। जहाँ चित्र-शिक्षण न हो वहाँ रांगोली सिखाने के लिए विद्यार्थी के खयालों में चित्र की रेखा का शिक्षण सबसे पहले जमाना होगा। तदुपरांत इन रेखाओं को विचूर्ण के रंगों से भरने की कारीगरी (टेक्नीक) के लिए मुहावरा बनाना होगा।

रांगोली का आधार है चित्र, फिर भी उसके उपयोग में इसकी खास विशेषता रहती है। किसी चित्र को अथवा चित्र के किसी अंश को बार-बार बनाना भी रांगोली का एक प्रकार है। इससे चित्र के रूप में जो कागज के ऊपर चित्रकार नहीं करता, उसे रांगोली के रूप में जमीन पर निर्मित करता है। बेशक, रांगोली के प्रगति के दिनों में एक सम्पूर्ण चित्र रांगोली की बुनियाद के रूप में आज बन रहा है। इससे रांगोली के दो प्रकार बन जाते हैं : मात्र चित्र की बुनियाद पर बनी रांगोली, तथा दूसरा चित्र या चित्र-खंड की घटनाओं (डिजाइन) की रांगोली।

शालाओं में इस तरह की डिजाइनें बनाने की कला शिक्षण रूपी है; अतएव उनका स्थान है, महत्त्वपूर्ण स्थान।

सर्जन के आनंद के साथ ही साथ रांगोली में कौशल-विकास का भी स्थान है। उंगलियों के बीच से विचूर्ण को छोड़ते हुए चित्र बनाने में स्नायु-संयम और गति दोनों का विकास होता है। चित्र तो घर की दीवारों का शृंगार करते हैं जबकि रांगोली दालान-बरामदों या आँगन की जमीन का शृंगार करती है। जमीन को बाग से, भवनों से, फव्वारों या हरियाली से सजाया-सँवारा जाता है वैसी ही रांगोली से भी सजाया जा सकता है। चित्र वही का वही रहता है फिर भी क्षण-प्रतिक्षण नवीनता का आनंद देता है, जबकि रांगोली प्रतिक्षण वैविध्य के कारण नवीनता का आनंद प्रदान करती है। क्षणिक विविधता में संध्या के रंगों की भाँति रांगोली की सज्जा अनंत एवं अमर चित्रों की भाँति कला की सर्जना है तथा मनुष्य को सहज ही अंतर्वृत्ति प्रकट करने का सुलभ साधन होने के नाते इसे शाला में स्थान मिला है तथा सर्वत्र भी स्थान मिला है।

: 2 :

अब जरा यह देखें कि शाला में रांगोली कैसे सिखाई जाए। जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूँ रांगोली का आधार चित्र-शिक्षण है, पर चित्र-शिक्षण कराया जा

रहा हो या नहीं, ऐसी तमाम शालाओं में रांगोली सिखाने का स्तर एक सरीखा रह सकता है। सृजन के सत्य सिद्धान्तों के आधार पर कहना न होगा कि सृजन स्वतंत्र एवं स्वयं-स्फुरित वातावरण की माँग करता है। वह आदर्श को, दिशा-निर्देश को, सहायक और सहचर को तो कबूल करता है पर रटाने-घुटाने वाले को, पढ़ाने और भाषण झाड़ने वाले को स्वीकार नहीं करता। वह परीक्षा और पुरस्कार को स्वीकार नहीं करता। वह दिखावे और वाह-वाही नहीं चाहता। कला-शिक्षण की भाँति रांगोली शिक्षण में भी सर्वत्र इन नियमों को शालाओं को स्वीकार करना चाहिए।

शाला में तरह-तरह के रंग और तरह-तरह के रंग-बिरंगे विचूर्ण रखे जाएँ; जब तब प्रसंगानुसार बालकों को पास बिठा कर रांगोली बनाना सिखाया जाए; रांगोली करके बताने वाले का हस्त-कौशल बालकों को साफ तौर पर दिखाई दे इतनी धीमी गति से खामोश बैठ कर बनाएँ और बालकों को जी भर कर देखने दो। देखते-देखते वे रांगोली की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अपने अंतःकरण में ले जाएँगे और जिस तरह पेट में पहुँचा आहार शरीर में रक्त का सृजन करता है उसी तरह अंतःकरण में गृहीत कला-संस्कार से बालक रांगोली के नए-नए सृजन करेंगे। उन्हें वैसा करने दिया जाए।

इतिहास भूगोल के विषयों को अभ्यासक्रम के साँचे में बिठाकर हमने इन्हें मृतप्राय कर डाला। ऐसा रांगोली के साथ न करें। कला पेड़ की भाँति अपने भीतरी आविर्भाव का अनुसरण करता हुआ बाहर आना चाहता है। उसको उगे हुए वृक्षों के आकारों का अनुसरण करने की क्या जरूरत? रांगोली में पाँच-पच्चीस रचनाओं के मुताबिक बालकों से रचना करवाना, नमूनों का अभ्यास करवाना और उनके मुताबिक रचनाएँ बनवाना रांगोली के विकास हेतु घातक चलन होगा।

रांगोली की सफलता का आधार रंगों की विविधता है। अतएव जितने अधिक संभव हो सकें बालकों को रंग उपलब्ध कराने चाहिए। अलबत्ता, यह रंग-विविधता की कद्र बालकों में वर्णेन्द्रिय के विकास बिना संभव नहीं। प्राथमिक शाला में वर्णेन्द्रिय के विकास के लिए मोंटेसरी शाला में प्रयुक्त रंग की पेटियों को विधिपूर्वक काम में लाया जाए तो बालकों में रंग के संस्कार विकसित होंगे। इसी भाँति रांगोली के लिए रूप की समझदारी और मनुष्य आकृति के रूपों का दर्शन प्रदर्शन द्वारा तथा साथ ही साथ प्रत्यक्ष सृष्टि के परिचय से कराना चाहिए।

सर्जन पहले से ही पूर्णता नहीं चाहता। दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी सर्जन आंतरिक भावों को पूरी तरह व्यक्त नहीं कर सकता। अंतःकरण में प्रत्यक्ष कोई कला-दर्शन इन्द्रियों के द्वारा तथा स्थूल साधनों के द्वारा पूरी तरह प्रकट हो भी नहीं सकता। बालक भद्दे-भोंडे जैसे भी सृजन करें, उनके बीच न आएँ। भाषण देने से या करके देने से हाथ में कुशलता नहीं आती वरन जब वे अपने हाथों को बार-बार काम में लाएँगे और स्वेच्छापूर्वक काम करेंगे तो उनमें कुशलता आएगी। अन्य कार्यों में जैसे पुनरावर्तन की जरूरत पड़ती है, वैसे ही रांगोली में भी पुनरावर्तन चाहिए, लेकिन पुनरावर्तन ऐच्छिक होना चाहिए।

रांगोली बालकों की सृजनशीलता को तथा कुछ हद तक प्रदर्शन वृत्ति को अवकाश देने के लिए होती है। न्यूनाधिक रूप में सर्जन की अभिरुचि सभी में होती है। अतः सभी बालकों को इस विषय में काम करने का अवकाश है। कुशलता सब नहीं प्राप्त कर सकते। फिर भी प्रवेश और प्रवास सभी के लिए संभव है। आज प्रवेश हुआ है, प्रवास शुरू किया है, जो पांच जन्मों में पूरा होगा।

: 3 :

रांगोली की सामग्री सिर्फ रंग और रंगमिश्रित विचूर्ण ही नहीं है। अनेक द्रव्यों से रांगोली तैयार की जा सकती है। अनाज की रांगोली, फूलों की रांगोली, बीजों की रांगोली, मोती की रांगोली तथा विविध-रंगी पदार्थों से रांगोली बन सकती है। रंग-बिरंगे चावलों से भरा गया गोलाकार घेरा रांगोली का एक प्रकार है। वेदियों पर अलग-अलग अन्नों द्वारा बनाये गए स्वस्तिक व अन्य आकार रांगोलियाँ ही हैं। विशालता में कहें तो मंडल स्वयं बर्तन एवं वस्त्रों की रांगोली है। बुद्धिमान अध्यापक, गाँवों का अध्यापक, शहर का अध्यापक, अपने आसपास के सादे और सस्ते द्रव्यों से रांगोली की सामग्री तैयार कर सकते हैं। सागर तट की काली व लाल मिट्टी, बहुरंगी धूल, रंग-बिरंगे कंकरों, घुंघचियों, दलहनों, चियां आदि से रांगोली बनाई जा सकती है। हरी ताजी सब्जियों व पत्तों से रांगोलियाँ अर्थात् मंडल रचे जा सकते हैं।

अगर संकल्प कर लें तो प्राथमिक शाला के शिक्षक इस विषय में सिखाने की मगजपच्ची किए बगैर, कम व्यय में, बालकों के भीतर कला-दृष्टि का विकास करने हेतु काफी-कुछ कर सकते हैं। ❑

छठा प्रकरण

बंगले-मैकेनो

किंडरगार्टन पद्धति में लकड़ी के विविध आकार के बहुरंगी टुकड़ों को जोड़कर बंगले बनाने के बक्से उपहार में दिए जाते हैं। इन बंगलों को स्वतंत्र शाला में तथा प्राथमिक शाला में भी हम काम में ले सकते हैं। शिक्षकों को इनकी शैक्षिक मूल्यवत्ता जान लेनी चाहिए। अगर निर्दिष्ट चित्रों के अनुसार अथवा दिये गए नमूनों के मुताबिक बालक बंगले बनाएँगे तो यही मानना चाहिए कि वे सृजन का बहुत बड़ा काम नहीं कर रहे। इससे तो वे फकत इतना ही सीख पाएँगे कि अनुकरण से कैसे काम किया जाता है। अनुकरण से किया गया काम शिक्षा की दृष्टि से सृजनात्मक कार्य की तुलना में हमेशा कम मूल्य का होता है। अतः बालक नमूने अथवा चित्र देख कर अगर बंगले बनाते हैं, इसके बजाय अपने हृदय की सूझ से अपना मनपंसद बंगला बनाएँ तो भले ही वह अपने आप में पूर्ण न हो, या कम सुंदर हो, तब भी उसकी कीमत बहुत अधिक है। अनुकरण से जो काम किया जाएगा उसमें नए विचार की गुंजाइश कम रहती है। जबकि अपनी कल्पना से रचना करने में नया विचार करना पड़ता है, तथा विचार को मूर्त रूप देने में विचार की वास्तविकता-अवास्तविकता की कड़ी परीक्षा लेनी पड़ती है। अतः शिक्षकों को ऐसे बंगलों के साधन देकर उन्हें स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए और जो भी नमूने तैयार होते हैं, उनका अहवाल लिख कर रख लेना चाहिए। नमूनों के आधार पर बंगले बनाने की एक मर्यादा होती है, अतः जिन साधनों से एकाधिक किस्म के बंगले बनाए जा सकें वे फकत अनुकरण में ही संभव नहीं हैं।

लकड़ी के टुकड़ों से बंगले बनाये जा सकते हैं। शहर के विद्यालयों में ये उपलब्ध हो सकते हैं। गाँवों में लकड़ी के खिलौने-बंगले बनाने की बजाय बालकों को सचमुच के ईंट-गारे के छोटे-छोटे मकान बनाने चाहिए। बंगलों में फकत सज्ञा का दुहराव होता है। लकड़ी के टुकड़ों की लंबाई, ऊंचाई, कमानें, थंभे आदि पहले से निश्चित होते हैं अतः इनमें बालक की इच्छा के अनुसार फेर-फार की गुंजाइश नहीं रहती। जबकि गारे का बंगला बनाने में बंगले को कद, उसके विस्तार तथा

विविध आकारों के लिए छूट रहती है। अगर संभव हो सके तो शहर में भी लकड़ी के बंगलों के स्थान पर गारे के बंगले व घर बनाने का प्रबंध हो जाए तो उत्तम रहे।

बंगलों के माध्यम से बालक कुछ अंश में स्थापत्य अर्थात् भवन-निर्माण की कला तथा विज्ञान के परिचय में आते हैं; और भवन-निर्माण मनुष्य जीवन की संस्कृति में एक युग-प्रवर्त्तक शोध होने के कारण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह शोध बुद्धि-विकास तथा कला-विकास का एक काल का परिपाक होती है अतः कला-विकास में अब भी उसका स्थान है।

हम चाहते हैं कि बालक शाला के आँगन में ऐसे छोटे-छोटे सचमुच के घर बनाएँ, आसपास बाग-बगीचे बनाएँ, एक घर से दूसरे घर जाने का रास्ता बनाएँ, छोटे घरों वाले एक गाँव से दूसरे गाँव जाने के साधन भी साथ-साथ बनाएँ, साधनों के लिए सड़कें व पुल आदि भी बनाएँ—ये तमाम गतिविधियाँ कला-कारीगरी की शिक्षा के साथ-साथ भूगोल व इतिहास की शिक्षा भी प्रदान करेंगी।

मैकेनो की दो चार किस्में होती हैं। इन सभी किस्मों के मैकेनो द्वारा नमूने बनाने की, बालक की यंत्र बनाने की, भवन निर्माण की तथा पुल बनाने की शक्ति के विकास में मदद मिलती है। बाल-मंदिर में कई बच्चे ऐसे देखने में आए हैं, जिन्हें चित्र, संगीत, लेखन आदि में से कुछ भी अच्छा नहीं लगता, फकत मैकेनो अच्छा लगता है। वे लंबे समय तक एकाग्रता से यही काम करते रहते हैं। वे शैतानियाँ या रोना-पीटना छोड़ देते हैं और मैकेनो मिलते ही उद्योगी बन जाते हैं।

मैकेनो द्वारा बच्चे बड़ी सहजता से छोटी-छोटी वस्तुएँ, यथा—गाड़ी, हाथठैला और आगे चलकर मोटर, ऐरोप्लेन, पुल आदि सच्चे इंजीनियर की भाँति बना सकते हैं। एक मिनिएचर इंजीनियर की भाँति वे मिनिएचर यंत्र-खिलौने बनाते हैं। भावों की बहक को इसमें स्थान नहीं होता, कल्पना भी नहीं होती, फकत वास्तविकता होती है। नट-वोल्ट्स द्वारा विधि-पूर्वक छोटे पहियों वाली एक नन्हीं गाड़ी बनानी होती है। मैकेनो में स्वच्छंदता के लिए अवकाश नहीं होता। मैकेनो कोई ऐसा साधन नहीं है कि जिससे नई गाड़ी, नई रेल्वे या रेल्वे के नए मॉडल बनाए जा सकें, वस्तुतः मैकेनो यह समझ देने के लिए है कि रेल्वे, गाड़ी, ऐरोप्लेन आदि वस्तुएँ कैसे बनीं, छोटे स्तर पर इनकी रचना करके बचपन में यह ज्ञान करना

है कि ये बड़े-बड़े यंत्र कैसे बने। मैकेनो में भावना और विविधता को स्थान नहीं होता, यह निश्चितता चाहता है; नमूने जैसा नमूना चाहता है, अतः मैकेनो के साथ वाली चित्रों की पोथी को सामने रखकर नमूने बनाने होते हैं। ये सब बनाने में ही बालकों को यंत्रों के संयोगीकरण-पृथक्करण का ज्ञान मिल जाता है।

किंडरगार्टन में प्रयुक्त घनों का उपयोग किंडरगार्टन शाला में अमुक जानकारी हेतु किया जाता है, पर वह उपयोग बालकों में कला-दृष्टि नहीं जगाता। घनों से जो अलग-अलग चीजें बनाई जाती हैं, उनमें आरोपण होने के कारण भावुकता बढ़ती है, जो बालक की कल्पना-शक्ति को आघात पहुँचाती है। मोंटेसरी शाला में ऐसा उपयोग अस्वीकार्य है।

पर अगर इन घनों को बालकों के हाथ सौंप दें और स्वेच्छापूर्वक उन्हें विविध रचनाएँ करने दें तो वे अपनी कला-दृष्टि और कलाकृति दोनों में प्रगति करेंगे।

दो घनों को पिता की कुर्सी या चार घनों को डॉक्टर की टेबिल के बतौर देखने में कोई फायदा नहीं; लेकिन चार घनों को रखकर उम्दा चबूतरा बनाने या घनों पर घन रखकर पूरी दीवार बनाने या घनों को गोलाकार एक-दूसरे पर रखकर कुआं बनाने में क्रिया है; क्रिया में वास्तविक संसार का लघु-दर्शन है।

एक बालिका को ऐसे सोलह या बीस घनों से जमीन पर जब मैंने घनों की विविध प्रकार की रचनाएँ करते देखा तो मेरे मन में घनों के नए उपयोग का खयाल पैदा हुआ। क्षण भर को वह घनों को पास-पास सजा कर, क्षण भर को उनके बीच थोड़ी दूरी रखकर, घड़ीक में और ज्यादा दूरी रखकर तो घड़ी भर में नजदीक दूर अन्दर वाले घनों को चौकोर, लंब-चौकोर जोड़कर, तो कभी गोलाकार या त्रिकोण-पट सजा कर वह घनों से जमीन पर चौकोर आकृति की मदद से कितनी ही प्रकार की रांगोलियाँ बना रही थी। फर्श की टाइल्स में जितनी-जितनी तरह के नमूने देखने में आते हैं, वैसे नमूने वह बना रही थी, बीस घनों की मदद से उसने कितनी ही तरह की सजावट की थी, डिजाइनें बनाई थीं। ऐसा कहा जा सकता है कि सौ से अधिक डिजाइनें उसने बनाई थी। वस्तुतः उसके द्वारा बनाई गई आकृतियों का चित्र ले पाना संभव नहीं था क्योंकि वह बालिका आकृतियाँ बना कर तत्काल बिगाड़ देती थी और दूसरी बनाने लगती थी।

हर बार बालिका की सर्जनात्मक प्रवृत्ति को अवकाश मिल रहा था। तरह-तरह की सर्जनात्मक संभावनाओं के कारण बिना किसी आरोपण के बालिका ने कई तरह की रचनाएँ बनाई थीं। उन रचनाओं का कोई भी चित्रकार उपयोग कर सकता था, क्योंकि वे नैसर्गिक थीं।

उस बालिका को एकाएक घनों के द्वारा दीवार, किला, पुल और ऐसी ही ऊँचाई की रचनाएँ करना सूझा। उसने घन पर घन रख कर ऐसी-ऐसी रचनाएँ कीं, जो हमारी कल्पना में भी नहीं आ सकतीं। जमीन की सतह पर घन रखकर जब एक तरह से सपाट आकृतियाँ बनती थीं, तब उनमें उन्हीं घनों के द्वारा लंब आकृतियाँ बनती थीं। इन आकृतियों में तरह-तरह की दीवारें, किले, बुर्जे, मंदिर आदि बन रहे थे।

दोनों आकृति को साथ रखकर कहें तो उनमें स्थापत्य-कल्पना के विकास की पूर्व तैयारी थी।

फिर उन घनों के छहों भाग अलग-अलग रंगों में रँगे हुए होने से रंगों की सज्ञा द्वारा रंग-रचना कैसी हुई थी, उनके भी कई नए-नए सर्जन सिरजे हुए थे। आकृतियों की विविधता को रंग-विविधता मदद दे रही थी अतः रचना की संख्या बीज-गणित के अंकपाश व समाहार (परम्युटेशन एंड कोम्बिनेशन) के नियमानुसार वैविध्यपूर्ण थी। सामान्य घन बालकों को कितनी सारी नई सृष्टि रचने का अवकाश देते हैं, इसका यह दर्शन मेरे लिए बाल-मंदिर में एक बहुमूल्य उपकरण बढ़ाने में प्रेरक बना।

ये साधन हर कोई प्राथमिक विद्यालय निचली कक्षा के बालकों को अगर इस तरह से काम में लेने हेतु उपलब्ध कराती हैं तो बहुत लाभ होगा। किंडरगार्टन शालाओं में जिस तरह प्रत्येक बालक के हिसाब से साधन उपलब्ध कराये जाते हैं, उस तरह व्यक्तिशः देने की जरूरत नहीं है। लेकिन कला-दृष्टि से ऐसे पाँच-पच्चीस साधन उपयोगी होते हैं तथा इनके एक-दो नमूने रखने चाहिए और अमुक वक्त पर बालकों के लिए ऐसे खेल खुले छोड़ देने चाहिए। इसमें शिक्षक किसी तरह का स्तर न रखे कि अमुक-अमुक होना चाहिए और अमुक-अमुक नहीं होना चाहिए। अमुक खेल पहले हो और अमुक बाद में, ऐसा भी कोई फर्क नहीं रखना चाहिए। अमुक

खेलों के चित्र बनाकर श्यामपट्ट पर चित्रित किये जाएँ और बालक उसी के अनुसार घन के खेल खेलें, ऐसी बाध्यता भी न रखी जाए। बालकों को घन सौंप दें, वे जो कुछ जैसे सजाते है उन्हें सजाने दें। बस, वे उनसे घर-घर न खेलें, भावना में खो जाने वाले आकार न बनाएँ, उनसे दूसरों के माथे पर चोट न लगाएँ, शिक्षक को इतना ही ध्यान रखना है।

संभव हो तो घनाकृति की सजावट वाले गलीचे या ऐसे पदार्थ शाला में वातावरण स्वरूप उपलब्ध रहें, ताकि बालकों के ध्यान में रहे कि घनों द्वारा कितनी विशाल कला-दृष्टि संभव है।

बाल-मंदिर में लकड़ी की ईंटों के नाम से लकड़ी के टुकड़े काम में लिए जाते हैं। लकड़ी की पट्टी के ये टुकड़े हैं। ये ईंटें तीन इंच लंबी, डेढ़ इंच चौड़ी और आधा इंच मोटी हैं। इनके द्वारा बालक कई तरह की रचनाएँ बनाते हैं। मंदिर, गहरा कुआं, घर की दीवारें, चार दीवारी आदि इन पट्टी-ईंटों से बन सकती हैं। बालक इस खेल में बहुत आनंद लेते हैं और बहुत समय लगाते हैं। प्राथमिक शाला में लकड़ी की पट्टी वाली ऐसी ईंटें आसानी से दाखिल की जा सकती हैं।

उपर्युक्त साधनों जैसे अन्य साधन भी उपर्युक्त दृष्टि से प्राथमिक शाला में काम में लिये जा सकते हैं। ज्यादा साधनों की जरूरत नहीं पड़ती अपितु उन्हें काम में लाने के पीछे विद्यमान कला की दृष्टि में निर्मलता बहुत जरूरी है। अगर यह दृष्टि शिक्षक की कल्पना में रहेगी तो वे धूल में से नए साधन तैयार कर लेंगे। लकड़ी की सींकें, छड़ियाँ, कार्ड बोर्ड के टुकड़े, ज्वार के सरकंडे आदि अच्छे साधन हैं। ❑

सातवाँ प्रकरण

शांति का खेल

जहाँ शांति होती है, अर्थात् जहाँ अस्वच्छता, गड़बड़, शोरगुल, विक्षेप, बाधा, अंतराय आदि नहीं होते वहाँ सब कुछ उगता है, खिलता है, बढ़ता है, विकसित होता है। जिस तरह स्थिर जल में वृक्षों, पहाड़ों, आकाश आदि का साफ-सुथरा प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी तरह शांति में आसपास के सम्पूर्ण शांत-अशांत वातावरण का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तन-मन की शांति में मनुष्य की अपनी शक्ति-अशक्तियाँ तथा गहन अंतःकरण के प्रवाह स्पष्ट रीति से दिखाई देते हैं। शांति किसी भी विषय में युक्त होने की अर्थात् योग की प्रथम आवश्यक स्थिति है। शिक्षा का उत्तम कार्य पूर्ण शांति चाहता है। यह शांति आंतरिक व बाह्य दो प्रकार की है। बाह्य शांति अर्थात् हमारे आसपास शांति-विक्षेपक तत्त्वों का अभाव, विरोधक प्रवृत्तियों का बहिष्कार। आंतरिक शांति अर्थात् शरीर एवं मन की स्वस्थता, शरीर के ऊपर का स्थूल नियंत्रण तथा मन की अचंचलता अर्थात् विराम या स्थिरता।

आज के विद्यालयों में जाकर देखेंगे तो कान पड़े बोल सुनाई नहीं देंगे। अध्यापकों के कंठ से निकली 'चुप, चुप' की ऊँची आवाज विद्यार्थियों के कोलाहल से स्पर्धा करती महसूस होगी। अध्यापक डंडा फटकारेगा और चारों ओर चुप्पी छा जाएगी। लेकिन फिर से मक्खियों वाली भिनभिनाहट शुरू हो जाएगी और थोड़ी ही देर में सब्जी मंडी वाला शोरगुल शुरू हो जाएगा। समझाने के लिए बैठा अध्यापक ऊँची आवाज में बोलता है; वैसी आवाज में बोलना उसकी अनिवार्यता है। विद्यार्थी उसके बिना दबते और पढ़ते नहीं। अध्यापक पाँच-पाँच घंटे गला फाड़-फाड़ कर थक जाता है और विद्यार्थियों के कान ऊब जाते हैं। ऊँची कक्षाओं वाले विद्यालयों में कक्षाएँ चलते समय सन्नाटे जैसी शांति मालूम पड़ेगी; फिर अध्यापक की ही आवाज सुनाई देगी। अगर बाहर थोड़ी-सी भी गड़बड़ होगी तो सबके कान खड़े हो जाएँगे और सबका ध्यान उस तरफ चला जाएगा। परंतु ज्योंही कक्षा छूटेगी, कि जबर्दस्त कोहराम मालूम पड़ेगा। अब तक दबाकर रखी गई शांति का बदला लेने के लिए विद्यार्थियों में जबर्दस्त अशांति-अस्वस्थता मालूम पड़ेगी। प्रथम प्रकार की

अशांति निर्बल नियंत्रण का परिणाम है, जबकि दूसरे किस्म की शांति सख्त नियमन की परिणति है। दोनों एक ही रूप के हैं, दोनों में स्वयं-नियमन की कसर है।

हमारे विद्यालय हमारे घर एवं समाज के प्रतिनिधि मात्र हैं, और यह बताना मुश्किल नहीं। कितना शोर-शराबा होता है हमारे घरों में? हम लोग बिना बात कितना ज्यादा बोलते हैं। वाणी पर नियंत्रण और संयम का विचार ही हमें नया लगता है। एक साथ सबों का बोलना और एक-दूसरे की बातें बहुत कम सुनना मानो हमारा स्वभाव हो गया है। एक को सुनाने के लिए हम इतनी ऊँची आवाज में बोलते हैं मानो दस-बीस लोगों को सुनाना हो। हमारी सब्जी मंडी, बाजार, जातीय भवन, देव-मंदिर आदि में जहाँ भी देखेंगे, वहाँ हमें एक ही बात का आभास होगा कि हम बहुत ज्यादा 'कोलाहलिये' हो गए हैं। सुबह से शाम तक का हमारा व्यवहार जिस तरह गरम वातावरण में चलता है, उसी तरह अशांत वातावरण में चलता है। इस तरह एक तरफ से यह गरम आबोहवा हमारे शरीर को शक्तिहीन करने में लगी है तो दूसरी तरफ यह अशांति हमारे ज्ञानतंतुओं (Nerves) को निष्क्रिय कर रही है। हमारी थकान का एक ठोस कारण है अशांति। यह बाह्य अशांति जहाँ हमारा श्वासोच्छ्वास बन रही है, वहीं आंतरिक शांति का तो पूछना ही क्या? अशांत तन और मन को और ज्यादा अशांत करके—नाटक, सिनेमा, पेय आदि उत्तेजकों द्वारा—अशांति द्वारा निर्बल होकर हम सो जाते हैं। इसको हम नींद कहते हैं। और सुबह ताजे फूलों की भाँति खिलने की बजाय बड़ी मुश्किल से हम बिस्तर छोड़ पाते हैं। शरीर गारे जैसा लगता है, मन बीमार, घिरा हुआ, मलिन लगता है। फिर से उत्तेजकों के बीच बैठकर उत्तेजित होते हैं और देह रूपी यंत्र को चेतन करके शाम तक आगे बढ़ते हैं और रात को फिर से गिर पड़ते हैं। अशांति और शोरगुल बेसुरे और बेमेल सुर हैं। अगर हम चौबीसों घंटे भी संगीत सुनेंगे तो हमारे ज्ञान-तंतुओं को रंच मात्र थकान नहीं होगी, बल्कि उल्टे आराम मिलेगा। पर यह शोर-शराबा तो मनुष्य-जाति को मारे दे रहा है। यह स्थिति हमेशा की भाँति इतनी अधिक स्वाभाविक हो गई है कि हम इस पर विचार तक नहीं करते। इसके साथ हमारी मैत्री इतनी दृढ़ हो गई है कि इसे छोड़कर हम जा भी नहीं सकते। हम गाँव में एकांत में रहते हुए डरते हैं। एकांत में रहना हमारा सुंदर काव्य है, परंतु उससे हम दूर भागते हैं अथवा वहाँ के सुखद वातावरण को बहुत कम समय तक ही झेल पाते हैं। उल्टे गाँव में अपेक्षाकृत अधिक शांति देखने में आती है। गाँव की सीमा में रहने वाला किसान

तो उससे भी ज्यादा शांति में रहता है। जब तक शहर में आता है तो सचमुच अकुला जाता है। इस तरह आज की अशांति हमें निर्बल बना रही है।

कहना न होगा कि आज तो हम शांति के प्रेम को लगभग भूल ही गए। अशांति का जहर हम पर भली-भाँति चढ़ गया है, और हमें इससे बचने की जरूरत है। आज की जो सम्पूर्ण अशांत स्थिति है उसे टालने तथा शांति का प्रेम विकसित करने का काम विद्यालयों को अपने हाथों मे संभालना है। यह काम ठेठ बाल्यावस्था से ही होना चाहिए। इसके लिए सर्वथा उचित स्थान है मोंटेसरी विद्यालय। यहाँ आने वाले बालक अगर एकबार शांति-प्रिय हो जाएँगे तो उनका घर, उनका भावी संसार, उनका गाँव और उनका समाज शांति-प्रिय बनेगा ही बनेगा। बालक शांति-प्रिय होगा तो जनता शांति का सुख भोगेगी, यही नहीं, शांति में बढ़ने वाला बालक अधिक वेग और बल से बढ़ेगा।

बालक में शांति विकसित करने के लिए डॉ. मोंटेसरी ने दो साधन प्रयुक्त किए हैं। एक साधन है बालकों के निमित्त प्रबोधक साहित्य और दूसरा साधन है शांति का खेल। मोंटेसरी के प्रबोधक साहित्य बाल-शिक्षण में इतने अधिक सहयोगी हैं कि बालक बड़े ही प्रेम से उनको बार-बार काम में लाते हैं और जब बालक उनको काम में लाते-लाते एकाग्र हो जाते हैं तो अपने आप उनका अपने शरीर और मन पर काबू हो जाता है। उनकी प्रत्येक गतिविधि शांति से चलती है। उनको साधनों की खड़खड़ाहट अच्छी नहीं लगती। उनके हाथों-पैरों और सभी अंगों में नियंत्रण व स्थिरता आ जाती है। उनका मन अचंचल हो जाता है। वह एक ही वस्तु एवं विचार पर केन्द्रित होकर विकास के आनंद को अनुभव करता है। अक्षुब्ध जल की भाँति उनका मन तरंग-रहित हो जाता है। उनकी शांति में हम उनके भीतर प्रविष्ट होकर उनको देखने में सक्षम हो जाते हैं। कार्य करते समय की और बाद की उनकी प्रसन्नता व तृप्ति शांति के उत्कट अनुभव की साक्षी रूप होती है। जब बालक प्रबोधक साहित्य को काम में लेते हैं तो उनका पूरा का पूरा कमरा एक उद्योगी व शांत समाज के जैसा लगता है। पूरा कक्ष चेतना का प्रेरक बन जाता है तथा देखने वालों को विराम देता है। जब बालक अपना-अपना काम धैर्य, दृढ़ता व स्थिरता से करते हों, जब काम पड़े तब प्रेम से व मृदुता से धीमे-धीमे बोलते हों तो वह दृश्य मुग्ध कर देता है। ऐसा दृश्य डॉ. मोंटेसरी ने अपने विद्यालय में प्रबोधक-साहित्य के बल से पैदा किया है। परिणामस्वरूप मात्र कमरे में ही नहीं अपितु काम कर चुकने के बाद में भी

बालकों में शांति का आनंद देखने में आया है। जब बालक काम कर लेने के बाद बाहर आते हैं तब हो-हल्ला नहीं करते; वे दबाए हुए बल को छूट मिलने पर मस्ती नहीं मचाते। इसका कारण यह है कि प्रबोधक साहित्य पर काम करते-करते बालक के हृदय में शांति पैदा हो गई। उसे एक प्रकार का अद्भुत अनुभव हुआ है। इस अनुभव की लहर में बच्चे बाहर भी शांति में रहने तथा फिर से शांति का आस्वाद करना चाहने लगते हैं। इस नाते प्रबोधक-साहित्य शांति-प्रेरक है। नन्हें बच्चों में सीखने की जबर्दस्त भूख होती है, इसी से वे अधिक चंचल लगते हैं। जब उन्हें उचित पोषण मिल जाता है तो वे स्वस्थ बन जाते हैं और चंचलता के बजाय शांति अनुभव करते हैं।

बालकों को शांति-प्रिय बनाने के लिए डॉ. मोंटेसरी ने एक तरीका निकाला है और वह है शांति का खेल। यह खेल मोंटेसरी को एकाएक सूझा। उनके वहाँ एक स्त्री अपने एक बच्चे को लेकर आई थी। बालक माँ की गोदी में बैठा था। अत्यंत शांत और गंभीर था। ज्योंही डॉ. मोंटेसरी उस महिला के साथ विद्यालय में आई कि विद्यालय के बालक तत्काल डॉ मोंटसरी को नमस्कार करने दौड़े और उस बालक के चारों ओर खड़े हो गए। उस समय डॉ. मोंटेसरी को एक विचार सूझा। प्रबोधक-साहित्य से बेशक बालक खेलते थे और उसके माध्यम से जैसा कि ऊपर कहा गया है विद्यालय की तथा व्यक्ति की शांति में बहुत वृद्धि हुई थी, फिर भी डॉ. मोंटेसरी को उस योगी जैसे शांत, गंभीर बालक की प्रशांत आनंदमयी मुद्रा भा गई और वैसी प्रशांति अपने विद्यालय के बालकों को देने का उनका मन हुआ। उनको यह अच्छा नहीं लगता था कि विद्यालय के बालक धड़धड़ दौड़ें, भागें या अव्यवस्था के साथ इकट्ठे हों। बालकों की इस कचाई को दूर करने का विचार उनके हाथ आ गया। उन्होंने बालकों के साथ बातचीत की और इसे एक खेल का रूप दे दिया। वे बोले : 'देखो, यह बच्चा कितना शांत है? देखा, यह कितना स्थिर है? इसके हाथ-पैर कैसे शांत हैं? इसका पूरा शरीर स्थिर है। इसके चेहरे की ओर देखो। इसका सिर नहीं हिलता, होंठ नहीं फरफराते, आवाज नहीं आती। कितना स्वस्थ है? कितना शांत है?' बालक उसको देखते रहे। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। डॉ. मोंटेसरी ने आगे कहा : 'तुम भी इसकी तरह से शांत बैठ सकते हो। देखो, बैठो देखें? हाँ, ठीक से बैठो। अब कोई नहीं हिल रहा। अब सब शांत हैं।' यों कहते हुए डॉ. मोंटेसरी ने वहीं के वहीं शांति का वातावरण फैलाते हुए शांति के आनंद

का अनुभव कराया। बच्चों को यह खेल पसंद आया और वे बार-बार करने लगे। यहीं से डॉ. मोंटेसरी ने शांति का खेल शुरू किया और बच्चों को यह खेल खेलाया जाने लगा। उनमें से दो-एक प्रकारों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

सब बच्चे एक कमरे में काम कर थे, तभी एकाएक खिड़की-दरवाजे बंद होने लगे अथवा खिड़कियों पर पर्दे गिरने लगे और कमरे में धीमे-धीमे अंधेरा होने लगा। जैसे-जैसे अंधेरा बढ़ता गया वैसे-वैसे बालकों का उसकी तरफ ध्यान खिंचता गया और वैसे-वैसे वे अपना काम छोड़कर अपने स्थान पर स्थिर बैठने लगे। जैसे-जैसे दरवाजे बंद होते गए कि सभी बच्चे स्थिर बैठ गए। उनका हिलना-डुलना बंद हो गया। जरा-सी भी आवाज नहीं थी। आगे होने वाले मनोविनोद की आशा में वे अभिमुखता से प्रतीक्षारत थे। तभी डॉ. मोंटेसरी की कोमल आवाज सुनाई दी और एक के बाद एक बच्चे का नाम पुकारा गया। बहुत धीमे से, नितांत हौले-से, मात्र सुनाई दे सके इतने धीमे से। शांति के वातावरण में जो एक ढंग का आनंद छा जाता है उसमें एकाध बालक का नाम पुकारे जाने पर जो सुंदर शांति-भंग होता है उस शांति का गौरव और गांभीर्य ही अधिक होता है। उस समय बालक को खूब मजा आता है। पंजे के बल चलकर बालक डॉ. मोंटेसरी के पास गए और वहीं बैठ गए। डॉ. मोंटेसरी ने मुस्करा कर उनका उत्साह बढ़ाया। डॉ. मोंटेसरी की आवाज से बालकों को इतना ज्यादा प्रेम था कि प्रत्येक बालक अपना नाम पुकारे जाने की प्रतीक्षा में था और सभी बच्चे उनका नाम पुकारे जाने तक शांति से बैठे रहे। इस खेल में बालकों को शांति के आनंद का अनुभव अधिक से अधिक होता था और वे इस खेल को ज्यादा से ज्यादा पसंद करते थे। जैसे-जैसे शांति का समय बढ़ता गया शांति अधिकाधिक फैलने लगी, और एक तरह का अपूर्व आनंद (Thrill of enjoyment) सर्वत्र फैल गया। इस समय बालक मक्खियों की भिनभिनाहट सुनकर यह समझने की स्थिति में थे कि वह आवाज उनकी शांति में विक्षेप डालने वाली थी। बल्कि अपने शरीर पर बैठी मक्खी को भी बालक उड़ाना नहीं चाहते थे उससे क्योंकि शांति-भंग होने का अंदेशा था। वे अपने श्वासोच्छ्वास को भी धीमे बहा रहे थे। बालकों को हम अशांत और अति चंचल मानते हैं और जो हमें ऊपर से ऐसे नजर नहीं भी आते हैं, यदि वही बच्चे शांति से बैठते हों, हौले चलते हों, धीमे-धीमे बोलते हों तो इसे एक चमत्कार ही कहना होगा और इस चमत्कार की सर्जक थी डॉ. मोंटेसरी। बालक या मनुष्य शांतिप्रिय है। वह अंतर्मुखी होना चाहता

है। पर वर्तमान अशांति का, बहिर्मुखता का प्रवाह उसे खड़े नहीं रहने देता। उसे शांति के पास जाने नहीं देता। बालकों को जब काम करते देखा तो डॉ. मोंटेसरी ने उनमें एक प्रकार की एकाग्रता की शांति का अवलोकन किया; यहाँ उन्होंने वही शांति अन्य स्थान पर देखी; और ये दोनों प्रकार की शांति शाला के वातावरण को शांत बनाती गई, ऐसा अनुभव हुआ। डॉ. मोंटेसरी ने कहा था : 'बाल-मंदिर में शांति की क्रीड़ा अत्यावश्यक है। यह शांति-प्रेरक व शांति-स्थापक होती है। प्रत्येक प्रवृत्ति की शुरुआत में बालक यह क्रीड़ा करें। बालक जिस तरह अन्य साधनों को स्वेच्छा से काम में ला सकते हैं उसी तरह शांति की क्रीड़ा भी जब अनुकूल लगे तभी खेल सकते हैं। अध्यापक भी इस खेल को खेलाने की विधियाँ मोंटेसरी शाला के सिद्धांतों के अनुरूप जो मान्य हों, वैसी संयोजित कर सकते हैं।'

डॉ. मोंटेसरी को जब भी इच्छा होती अपने विद्यालय में जाकर श्यामपट्ट पर लिख देतीं: 'Silenzh-शांति।' काम करते-करते बालक एक के बाद एक जब श्यामपट्ट पर लिखा पढ़ते तो काम छोड़कर शांति का आनंद लेने बैठ जाते। काम का आराम शुरू हो गया। सभी बालक क्षण भर में शांत हो गए और थोड़ी ही देर की शांति में, स्नान करने के बाद जैसे शरीर स्फूर्ति प्राप्त कर लेता है, वैसे मन की स्फूर्ति प्राप्त करके वापिस जोश के साथ काम में बैठ गए।

ऐसी क्रीड़ा प्रत्येक बाल-मंदिर में आवश्यक है। अन्य विद्यालयों को भी इसका लाभ उठाना चाहिए।

ऊपर डॉ. मोंटेसरी शांति का खेल कैसे खेलाती थीं, इसका एक प्रकार बताया गया है। अगर हम भी इसी तरह से शांति का खेल खेलाने बैठ जाएँगे अर्थात् फकत इसकी नकल करेंगे तो शांति की क्रीड़ा एक मखौल बन जाएगी। अगर बालक रोजाना पंद्रह मिनट या आधे घंटे सचमुच मन पंसद खेल के बतौर 'शांति का खेल' न खेलें, खेलते समय एक रूढ़ि के बतौर इकट्ठे होकर केवल खेल का नाटक करें, खेलते समय उनके मन में या चेहरे पर इसका आनंद न हो, खेलने के बाद उल्टे अशांति पैदा करने लगें और स्वेच्छा पर छोड़ दें तो कमरे से बाहर निकल कर बैठ जाएँ तो समझ लेना चाहिए कि शांति का खेल अनुकरण मात्र था मात्र नकल करने से तथा इसका वास्तविक मर्म न समझने से ऐसा ही होता है। अतः शांति की क्रीड़ा कराने वाले अध्यापक को अनुकरण न करने की चेतावनी दी

जाती है। उसे शांति की क्रीड़ा का असली हेतु समझकर उसके खरे स्वरूप में आयोजित करना चाहिए। प्रत्येक विद्यालय को खेल का हेतु ध्यान में रखकर इसकी कारीगरी का अंतःस्वरूप समझकर आसपास की परिस्थिति में अनुकूल लगने वाली रीति से यह क्रीड़ा शुरू करनी चाहिए।

शांति के खेल को सचमुच सफल बनाना हो तो तीन बातें आवश्यक हैं। एक—शिक्षक की योग्यता, दूसरी—वातावरण की जमावट और तीसरी—बालकों की अभिमुखता व तैयारी।

शांति का सच्चा अर्थ समझने वाला अध्यापक ही यह खेल खेला सकता है। शिक्षक 'शांतिप्रिय' होना चाहिए, पर 'चाहिए' अर्थात् तत्त्व स्वीकार में नहीं अपितु उसके अपने जीवन में है। उसकी इन्द्रियाँ और मन स्वतः शांति की तलाश करने वाले हों और अशांति को न सहने वाले हों, वह क्रीड़ा के समय शांत रह सके पर पूरे समय अशांत रहे, अर्थात् उसमें स्वयं में शांति न हो; फकत ऊपर से जो शांति बता सके लेकिन भीतर अगर वह अशांति को रोक रहा हो, तो ऐसा शिक्षक अपने आप में शांति का आदर्श नहीं होता। उसका काम अंत में जाकर शांति में परिणत नहीं होता। वह सचमुच शांति का खेल नहीं चला सकता। जिस प्रकार जहाज के कप्तान के मन में सागर के बीचोंबीच और उछलती लहरों के बीच भी स्थिरता और संतुलन होता है वैसे ही शिक्षक के मन में भी पूरे समय ऐसा ही संतुलन चाहिए। ऐसा शिक्षक गतिपूर्वक शांति का खेल खेला सकता है। उसका अपना वातावरण ही एक प्रकार की शांति की क्रीड़ा होता है।

ऐसा शांतिप्रिय शिक्षक शांति-अशांति के बीच सूक्ष्म अंतर कर सकता है। वह मधुर आवाज (Sound) और शोरगुल (Noise) के बीच अंतर कर सकता है। वह अच्छे संगीत और बेमेल गड़बड़ के बीच फर्क समझ सकता है। वह निसर्ग की ध्वनियों के आनंद में तथा रेलवे या मिलों की खटपट के बीच अंतर कर सकता है। नीरव शांति, मधुर रवयुक्त शांति तथा अशांति के बीच वह फर्क कर सकता है। ऐसा अध्यापक शांति का वातावरण या जो इस खेल में अत्यावश्यक वस्तु है, उसकी अच्छी तरह से रचना कर सकता है।

शांति का वातावरण शांति-प्रेरक है। हमारा स्वभाव शांति में शांति और अशांति में अशांति पैदा करने का है। किसी शांत भव्य योगी की गुफा में जाएँगे तो

हम शांति की साँस लेने लगेंगे। वहाँ हमारा गड़बड़ करने का मन भी नहीं होगा। गुफा की शांति का हम पर प्रभाव पड़ेगा। यही बात प्रत्येक शांति-प्रिय स्थान के साथ लागू होती है। उल्टे हम जातीय आयोजन में, जुलूस में या बाजार में, जहाँ अशांति फैली होगी, जाकर खड़े रहेंगे तो उसमें हम भी वैसे ही हो जाएँगे। वह वातावरण हमें वैसा बनने को बाध्य कर देगा। सारांश यह है कि शांति का वातावरण शांति देता है और शोर-शराबे का वातावरण अशांति पैदा करता है।

जैसा बड़ों को लेकर हमारा अनुभव है, वैसा ही बालकों को लेकर है। किसी शांत कमरे में, किसी शांत बगीचे में, किसी शांत संग्रहालय में बालक को छोड़कर तो देखें। शांतिमय वातावरण में उसकी चंचलता स्थिर होगी, वह स्वस्थ और संयमी बनने लगेगा। वह अपना सर्जन सफाई और जोश के साथ करने लगेगा अर्थात् छोटे हों या बड़े, शांति का प्रभाव सबके लिए शांति-प्रेरक होता है।

आइए, अब जरा इस बात पर विचार करें कि शांति के खेल में आसपास का वातावरण कैसे रचें! सबसे पहले तो शिक्षक की आवाज धीर-गंभीर हो। चेहरे पर शांति हो। उसके साथी भी वैसे ही हों। शांति-विरोधी तत्त्वों का यथा—मोटर की भों-भों, मदारी के खेल, बालकों की हँसी या दौड़ भाग के खेल, बड़े-बुजुर्गों की ऊँची आवाज में बातचीत आदि का अगल-बगल में नितांत अभाव होना चाहिए। कहने का मतलब यह है कि शांति के वातावरण में मिलकर शांति को जो बढ़ाए या मधुर करे, उसके अलावा अन्य घटनाएँ या आवाजें वहाँ नहीं होनी चाहिए। परंतु शांति को कोमलता से भंग करके जो शांति का सही स्वरूप बता दे, अगर ऐसी आवाजें आसपास हो रही हों उदाहरणार्थ नजदीक या कहीं दूरी पर मधुर स्वर में कोयल कुहुक रही हो या कमरे में घड़ी की टिक्-टिक् बज रही हो, या मृदु-मंद पवन की लहरों का धीमा-धीमा स्वर सुनाई दे रहा हो या कोई ऐसी ही तालबद्ध प्रवृत्ति चल रही हो, जो बाधक न हो। शांति अर्थात् निपट शांति यह एक स्वरूप है; नीरवता का वहाँ दर्शन भी होना चाहिए। पर दूसरी-दूसरी आवाजों में अगर सुरीलापन हो तो वह भी शांति है, अशांति नहीं। इसका भी खयाल आना चाहिए।

खेल का कमरा शांति-प्रेरक होना चाहिए। हल्का अँधेरा, हल्के कलात्मक रंगों में रंगे पर्दे व दीवारें तथा उपस्कर भी शांति-प्रेरक तत्त्व हैं। इनकी अवगणना नहीं होनी चाहिए। खेल वाले कमरे में अगरबत्ती की या मधुर फूलों की महक आवश्यक

है। दूर के गवाक्ष में एकाध मंद-मंद जलता घी का दीपक भी शांति में सहायक होगा। कमरा साफ-सुथरा और सजा-धजा हो, भीतर कोई आवाज न हो, खिड़की-दरवाजे खटाखट न कर रहे हों, पर्दे फड़फड़ा न रहे हों, वहाँ खड़ा अध्यापक स्वयं शांति की एक प्रतिमूर्ति हो, ऐसे में अंदर आते ही बालक वहाँ की शांति से आकृष्ट होंगे और शांत होने लगेंगे। यह हुआ शांति के खेल का वातावरण।

अब हम बालकों की अभिमुखता और उनकी तैयारी पर जरा विचार करें।

इस खेल में उसी बालक को सम्मिलित करें जो अभिमुख हो। रोने वाले को शामिल न करें। अंधेरा जिसे पंसद न हो, उसे भी एक बार अलग रखें। जिसे तैयारी की तालीम देना मुश्किल लगे, उसे या तो बाहर रखें या अलग बिठाएँ अर्थात् उसका एकाकी-करण करें। परंतु बालक को जबरदस्ती खेल में शामिल करने से इस खेल के प्रति उसके मन में उल्टा विरोध पैदा होगा। उसे इस बात का कभी खयाल ही नहीं आएगा कि शांति क्या है, फिर शांतिप्रिय भला होगा भी कैसे? अतएव अन्य विषयों में जिस तरह पसंद-नापसंद की आजादी रहती है उसी तरह इस विषय में भी उसे चयन की छूट दें। आखिर तो उसे सब के साथ जुड़ना ही है। जब वह कौतुक के साथ अपने आप आए तभी उसे आने दें, परंतु खेल में उसे भाग लेना ही चाहिए, ऐसा आग्रह न रखें, अगर भाग न ले सके तो उसे बाहर भी न निकालें अगर उससे गड़बड़ होती हो। गड़बड़ होती हो तो उसे वहाँ न रखें, शांति के खेल को एकाध शोर मचाने वाला बालक बिगाड़ देता है, वह दूसरों के लिए त्रासदायी बन जाता है। अतः ऐसे बालक को दूर रखें। उसको बाहर न निकालें तो किसी अलग आसन पर या कुर्सी पर बिठा दें। शांति का खेल तो उन्हीं बालकों से शुरू किया जाए, जो अभिमुख हों।

परंतु शांति के खेल के लिए तैयारी की जरूरत होती है। सम्पूर्ण शांति तो तब आएगी कि जब सबके सब बिना हिले-डुले बैठे हों। उन्हें मक्खी उड़ाकर गड़बड़ करना भी न सुहाये; नाक से रेंट बहती हो तो भी न सुहाये, उठकर जाना पड़े तो धीमे-से, बात भी करनी हो तो होठों में, कुछ लेना-रखना हो तो धीमे-से और सफाई से, ताकि आवाज न हो। ये सब गुण बालक में आने चाहिए। पर अगर हम बालक से कहेंगे कि 'पाल्थी मारो', 'गड़बड़ नहीं' तो वह नहीं आएगा। पल भर को उसमें शांति नजर आएगी, पर अगले ही क्षण दुगनी गड़बड़ हो जाएगी। अतः यह

सब कैसे हो, यह बालक को बताया जाए। यह बताने में भी एक तरह का शांति का खेल है, क्योंकि जब बालक 'कैसे चलें', 'कैसे बोलें' इसका पाठ सीखते हैं तो वे एक शांत समूह बन जाते हैं और कमरा शांति की प्रक्रिया में आ जाता है।

शिक्षक को शांति के खेल के अंगों को समझते हुए धीमे चलना, धीमे दौड़ना, धीमे बैठना, धीमे बोलना आदि सब काम धीमे और सफाई से करना सिखाना है। लेकिन यह काम उपदेश से नहीं, सामने क्रिया करके, सब बालकों के सामने वह क्रिया करके तथा बालकों को उस क्रिया की सूचना देकर। शिक्षक धीमे-धीमे पंजों पर चलकर बताए और बालक एक के पीछे एक वैसा करें, यही रीति अन्य प्रसंगों में भी आजमाई जाए - सिर्फ शांति की क्रीड़ा के स्थान पर ही नहीं अपितु जहाँ-जहाँ भी वे सब इकट्ठे हों। इससे बालकों में धीमे-धीमे चलने का नियंत्रण पैदा होगा। यह काम शिक्षक को मोंटेसरी पद्धति के पाठ पढ़ाने के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए ही करना है। कुल मिलाकर शिक्षक को यह जानना चाहिए कि बालक में शरीर, वाणी आदि पर नियंत्रण की कहाँ जरूरत है। यह जानकर उसे नियंत्रण करने की विधि बालक को बता देनी चाहिए। वह क्रिया का पुनरावर्तन करके क्रिया को सिद्ध कर लेगा। उस समय का दृश्य देखने योग्य होगा। एक बालक शिक्षक के बताये मुजब बराबर करेगा तो दूसरा उसको देखने में तल्लीन होगा। इस तल्लीनता से शांति स्थिर हो जाएगी। ऐसे प्रत्येक अवसरों पर शिक्षक ऐसा कहे बिना न रहें कि 'वाह, कैसी मजेदार शांति है! हम इस तरह जो बैठे हैं, इस तरह धीमे-धीमे चलते हैं, इस तरह धीमे-धीमे बोलते हैं, अतः कैसी सरस शांति है! यह खेल कितना सुंदर है। जो बच्चे इस तरह का खेल खेलना चाहते हों, वे अपने हाथ ऊपर उठा दें ताकि बारी-बारी से उनको भी खेल में शामिल किया जा सके!' एक के बाद एक बालक चलने, वस्तु उठाने, बात करने, दौड़ने या धीमे-से किसी को छूने के लिए खड़े होंगे, और एक तरह की आनंददायी प्रवृत्ति में सभी का बहुत-सा समय गुजर जाएगा। यह भी शांति का ही एक खेल है।

शिक्षक वहाँ घटित होने वाली घटनाओं का शांति-अशांति की तरफ ध्यान खींचने के लिए लाभ लेने से न चूकें। किसी बालक के नाक से रेंट सुड़सुड़ाएगी तो शिक्षक बोलेगा : 'नाक से सुड़सुड़ाने की आवाज आ रही है।' बाहर कोई धड़-धड़ दौड़ेगा तो शिक्षक उसकी तरफ ध्यान खींचेगा। कोई मधुर गा रहा होगा तो शिक्षक

उसकी मधुरता की तरफ ध्यान आकृष्ट करेगा। कोई बालक दरवाजे से टकराएगा, शिक्षक स्वयं चलते हुए किसी बालक से टकराएगा तो इस तरह के विक्षेप की तरफ वह बालकों का ध्यान खींचेगा। संक्षेप में कहना चाहिए कि शिक्षक शांति-अशांति के रूपों की तरफ बालकों का ध्यान खींचेगा और उनका प्रत्यक्ष अनुभव समझाएगा।

जिस समय शिक्षक शांति की क्रीड़ा के अंगों को सिद्ध कर रहा होगा उस समय वह बालकों के सामने उनकी पूर्णता प्रस्तुत करेगा। नए बालकों के लिए वे तमाम बातें एक ही दिन में सिद्ध करने योग्य नहीं होंगी। इसके लिए तो उन्हें कई-कई दिन लगेंगे। शिक्षक को पुनरावर्तन के लिए बालकों को छूट देनी होगी। छूट मिलेगी तो शिक्षक के बताये अनुसार बालक जहाँ-तहाँ क्रियाएँ करते दिखाई देंगे। साधना की इस अवधि के दौरान अध्यापक को बालकों की अपूर्णताओं को लेकर कमियाँ निकालने की जरूरत नहीं है कि 'देखो भैया! यों नहीं चलेगा, यों तो गड़बड़ हो जाएगी।' 'देखो बहन! तुम तो बोलकर गड़बड़ कर रही हो। शांति की क्रीड़ा के लिए तुमको बाचचीत करना किस तरह बताया गया था?' मोंटेसरी शालाओं में जिस तरह दूसरी तमाम स्थितियों में त्रुटियाँ नहीं निकाली जातीं, वरन त्रुटियों को रोकने के लिए बालक के सामने बार-बार सही मार्ग प्रस्तुत किया जाता है, वैसे ही यहाँ करना होगा। इस तरह यथा समय अमुक काम कैसे होता है, वही बालकों को करके बताना होगा।

धीरे-धीरे खेल के सभी अंग बालक में खिलने लगेंगे और शांति का खेल खेलने का समय आ जाएगा। उस समय जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, वैसी क्रीड़ा की जा सकेगी। बालक सुंदर-शोभायमान कमरे में आकर बैठे होंगे; भव्य, शांत, प्रसन्न चेहरे वाले शिक्षक खड़े होंगे, धीरे-धीरे मंद्र-मंद्र अंधकार होने लगेगा, वैसे-वैसे बालक स्थिर होने लगेंगे और अंत में सम्पूर्ण समूह एक व्यक्ति जैसा बन जाएगा। मधुर सुवास में, घी के दीपक के प्रकाश में तथा शांति में बालक ज्यादा से ज्यादा स्थिर व प्रसन्न होंगे। वे इस बात के लिए उत्सुक होंगे कि अध्यापक जी उन्हें क्या कहेंगे! शिक्षक या तो कहेंगे : 'आँखें बंद।' सब आँखें बंद कर लेंगे। शिक्षक कहेगा : 'सुनो, दूर कहीं कबूतर गुटरगूँ कर रहा है। बाहर वृक्ष के पत्ते सरसरा रहे हैं। घड़ी टिक-टिक कर रही है।' बालक सुनने के लिए कान देंगे। शरीर के साथ

इन्द्रियों की तथा मन की एकाग्रता होगी, शांति बढ़ेगी। कभी शिक्षक स्वयं गंभीर शांति में डूब जाएगा और सब के सब निःस्तब्धता में बैठे रहेंगे। जैसे-जैसे समय बढ़ेगा, शांति क्षीण होने लगेगी। बच्चे एक तरह के रोमांच का अनुभव करेंगे। संभव है शिक्षक कोई मधुर-सा गीत धीमी आवाज में सुनाए, संभव है वह मधुर स्वर में सबको अपने समीप बुलाए या नाम बोलकर खड़ा करेगा और फिर बिठा देगा। यह भी संभव है कि शिक्षक भावनात्मक वातावरण में अंतर्मुखी हो जाए और एकाध प्रार्थना गाने लगे। बालक सुनेंगे और भावानुभावन करेंगे। इस समय बालक एकांत का, स्थिरता का तथा अचंचलता का रहस्य मंत्र स्वयं पढ़ेंगे। नन्हें शरीर से वे नन्हीं-सी योग-साधना करेंगे।

आखिर खेल समाप्त होने आएगा। खेल तभी तक चलेगा, जब तक कि वह बालकों को पसंद आएगा। अभिमुखता और प्रसन्नता हो तभी तक उसका आनंद रहता है, अन्यथा निरर्थक दबाकर रखने जैसा ही होगा। लेकिन खेल समाप्त होने पर धीरे-धीरे दरवाजे खुलेंगे, प्रकाश आएगा तो बालक एक-दूसरे का मुस्कराता चेहरा देखेंगे। खेल की समाप्ति के बाद वे अन्य प्रवृत्तियों में अधिक शांति व जोश के साथ भाग लेंगे।

शिक्षक शांति के खेल का मूल मर्म ध्यान में रखते हुए खेल के प्रकारों में विविधता ला सकता है, पर उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि शांति के खेल में विविधता लाने का आग्रह मुख्य बात नहीं है। बाल-मंदिर में अर्थात् मोंटेसरी शाला में इस खेल का उतना ही अनिवार्य स्थान है, जितना गड्डा-पेटी का।

अगर अन्य विद्यालय भी इस खेल का लाभ उठाएँ तथा अपनी अनुकूलता के मुताबिक खेल की विधि में परिवर्तन करें तो आज के विद्यालयों में व्याप्त शोर-शराबा घटेगा ही। इस खेल को अपनाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इतना तो याद ही रखना चाहिए कि यह खेल अनिवार्य कभी न हो। इसके प्रति प्रेम उत्पन्न किया जाएगा, तभी इसका फायदा मिलेगा। आज का प्रत्येक विद्यालय अगर एकमात्र शांति की क्रीड़ा को ही यथार्थ रीति से दाखिल कर सके तो हमें शोर-शराबे के एक रोग से तो वर्षों बाद मुक्ति मिल सकेगी, हम आज की तुलना में और अधिक सचेतन बन सकेंगे।

❑

आठवाँ प्रकरण

शाला में कलात्मक दृष्टि से सज्जा

उपस्कर, शिक्षण-उपकरण तथा कलात्मक सुंदर वस्तुओं की व्यवस्थित, सुगठित, सुसंगत सजावट का काम एक कलात्मक कार्य है। चित्रकला हो या संगीत कला, साहित्य हो या स्थापत्य, सभी कलाओं में सज्जा-योजना का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसीलिए जब तक चित्र का विषय फलक की संगति में सजा हुआ नहीं होता, और जब तक वाद्यों, तालों व सुरों में संगति नहीं होती, तब तक चित्र कुरूप और संगीत बेसुरा अथवा तत्त्वहीन लगता है। इसी भाँति जहाँ जीवन के तारों का मिलान सही होता है, वहाँ जीवन-कला, जीवन-संगीत सम्पूर्ण आनंद के साथ खिल उठता है। इसके विपरीत जहाँ इनकी संगति में रंचमात्र फर्क पड़ जाता है वहाँ जीवन के तारों से हृदय विदीर्ण कर देने वाला बेसुरा और विसंवादी गीत फूटने लगता है। लोक-जीवन में लोककला की साक्षी लोगों के घरों में बहुत अच्छी तरह देखने को मिलती है। जिनके यहाँ अब भी कला की आत्मा विद्यमान है उनके घरों में बरतनों की सजावट, चकलों-चंदोवों की सज्जा देखकर आँखों और प्राणों को शीतलता मिलती महसूस होगी। इसके विपरीत जिनके यहाँ से कला के प्राण उड़ गए हैं वहाँ तो लाखों रुपयों के कीमती और कलात्मक उपस्कर भी इधर-उधर धूल खाते नजर आएँगे, यह देखने के लिए हमें एक तरफ गाँव में किसी एक ठीक-ठाक से जागीरदार का घर और दूसरी तरफ मुंबई के किसी स्थापित सोलिसिटर के घर को देखना पड़ेगा। प्रदर्शनों में यह फर्क तो बार-बार देखने को मिलता है। मात्र सुंदर सज्जा की खामी के कारण अच्छी से अच्छी वस्तुएँ भली-भाँति प्रदर्शित नहीं हो सकतीं। उनका सारा लाभ प्रेक्षक नहीं उठा सकते, न उनमें से कला का उच्च आनंद प्राप्त हो सकता। अनेक प्रदर्शन इसी वजह से बेकार जाते हैं। जीवन में ऐसी अनेक बातें हैं कि जिनकी व्यवस्था बराबर नहीं होने के कारण सम्पूर्ण जीवन अप्रदर्शित या अपूर्ण प्रदर्शित रह जाता है। सज्जा या व्यवस्था महत्त्वपूर्ण चीज है। सज्जा की खूबी सज्जा में ही निहित है, इसकी कलात्मकता तो सजावट की कला में ही है, और इसका आनंद सज्जा के आनंद में ही निहित है। सजावट की कला वस्तु के ऊपर अवलंबित नहीं होती, सज्जा की कला वस्तु की कीमत पर नहीं टिकी होती, वह तो सजावट की रसिकता पर ही निर्भर करती है। जितनी रसिकता से

इटली की दो वाजेज को सजाया जाता है, इसकी सजावट में कला की आत्मा का जितना प्रतिबिम्ब डाला जा सकता है, उतनी ही रसिकता से दो हंडियाँ भी सजाई जा सकती हैं और उनकी सज्जा में भी कला का प्रतिबिम्ब झलकाया जा सकता है। जिसके हाथ में सजावट की रसिकता होती है वह दो सुंदर, अद्‌भुत कलाकृति के नमूनों जितनी ही खूबी से कला-मंदिर में सजा सकता है, उतनी ही खूबी से गली में ठोकरें खाते, हाथ लगे दो पत्थरों को भी सजा सकता है। जिसके गले में प्रस्तुति की रसिकता होती है, वह जितनी कोमलता और मधुरता से कोई एक अश्रुत पूर्व राग गाकर श्रोताओं को आंदोलित कर सकता है, उतनी ही मिठास से एकाध भजन सुनाकर मंडली को जमा सकता है। अगर मनुष्य में रसिकता है तो मामूली से मामूली वस्तु भी अमूल्य बनकर खड़ी रहती है। पर अरसिक में रस उत्पन्न करने का जिम्मा लेने में तो ब्रह्मा भी इनकार करता है।

रसिकता का प्रथम अंग है स्वच्छता। स्वच्छता रसिकता की बुनियाद है। झाड़ू घर की शोभा के रूप में इसीलिए जानी-पहचानी जाती है। कैसी भी जगह क्यों न हो, उसे झाड़-बुहार दिया जाता है तो वह कितनी सुंदर लगती है? बुहारा हुआ घर अपने आप में एक सुंदरता है। बुहारी हुई गलियों को देखकर हम बहुत खुश होते हैं। साफ-सुथरे बगीचे हमारे आनंद में वृद्धि करते हैं। बुहारे हुए हृदय-मंदिर उज्ज्वल लगते हैं। यहाँ निम्न पंक्तियाँ ठीक से समझ में आएँगी :

शेरी वळावी सज्ज करूं, हरि घरे आओ ने;
शेरड़ीओ पथरावुं फूल, हरि घरे आओ ने।

अर्थात् हृदय रूपी गली को झाड़-बुहार कर लिया, मेरे हरि, आप घर में आइए न! मेरी झाड़ी-बुहारी हुई गली में मेरे प्रेम-पुष्प सजाये हुए हैं।

पर एकमात्र झाड़ू फेरने के आलस या अनादर के कारण हम अपने विद्यालयों, धर्मशालाओं, रेलगाड़ियों, मंदिरों और जीवन-मंदिरों को कितने अस्वच्छ, गंदे और बदबू के मारे सड़ते देखते हैं? संत भी कहते हैं कि सर्व प्रथम शुद्धि करो कि जिससे सत्य आए! संध्या में मार्जन की क्रिया में भी यही रहस्य छुपा है। हर तरह के कचरे से अंटा, जालों से लदा-फदा बाल-मंदिर, कला-मंदिर या जीवन-मंदिर शोभादायी कैसे हो सकता है? उसमें मनुष्य की कलापूर्ण आत्मा कैसे विकास कर सकती है?

सादगी रसिकता का दूसरा स्तंभ है। जो महिला अपने अंगों पर गहने लादे रहती है या जिसने अपने शरीर को गहनों से ढक रखा है, वह सादगी का मर्म नहीं समझ सकती। सादगी की रसिकता तो शरीर को शोभा देने वाला और थोड़ा-सा पहनने में निहित है। इसीलिए कहावत बनी होगी कि 'सांपड़े तेटलुं न पहेराय, पण शोभे तेटलुं ज पहेराय' (अर्थात् जितना कुछ मिल गया है वह सारा का सारा नहीं पहनना चाहिए, वरन उतना ही पहनें जितने से हमारी शोभा बढ़ती हो।)। गहनों के मामले में तो कुछ न पहनने में ही एक तरह की सुंदर सादगी विद्यमान रहती है। यह सादगी रसिकता की कोमलता है; यह सादगी रसिकता की निर्व्याजता है; यह सादगी रसिकता की रसिकता है। ठसा-ठसा कर भरे हुए भरत के कसीदे में या कहीं भी जगह न छोड़ी गई हो, ऐसी नक्काशी के नमूने में सादगी की रसिकता तो है भी नहीं, इसे सादगी की विकृति कहा जाना चाहिए, आडंबर कहा जाना चाहिए। सादगी में ही रसिकता वास करती है तभी तो हम मितभाषी और प्रियभाषी की प्रशंसा करते हैं। चर्चा के प्रसंग में भी थोड़ी सफाई से विषय की प्रस्तुति करने वाला, इसीलिए हमें अच्छा लगता है। लेखों में भी छोटे व सारगर्भित लेखों की छाप इसीलिए पड़ती है। इसके विपरीत कई नाटक, सिनेमा और सभाएँ हमें अपने आडंबर के कारण अच्छी नहीं लगतीं। भोजन में भी कई बार अति आडंबर के कारण हम उकता जाते हैं।

हमें कोई भजन पसंद आ जाता है और पुराण का कोई गैर जरूरी लंबा करके कहा गया प्रसंग नहीं भाता। इसका कारण यही है कि हम लोगों में सादगी की रसिकता है, और यह चीज भजन में है। सादगी की रसिकता विपुलता में नहीं होती, सप्रमाणता में होती है। सादगी की रसिकता स्थूलता में है, इसके बजाय अकेली विशालता में या मोटाई में नहीं है अपितु उसमें विद्यमान कोमलता में है; सादगी की रसिकता नाजुकता में या निर्बलता में नहीं है वरन् इनके पीछे विद्यमान बल में है। हमारे म्यूजियम, कलामंदिर, विद्यालय और घर आज तो रसिकता, अरसिकता के भयंकर मिश्रण हैं। कलकत्ते का मलिक का घर या विक्टोरिया मेमोरियल हॉल या जादुई घर सादगी की रसिकता के वर्णशंकर हैं।

रसिकता का तीसरा अंग है उपयुक्तता। चाहे कोई स्थल और दृष्टिकोणों से कितना ही सुंदर हो, अगर वह काल अथवा व्यक्ति के संदर्भ में उपयुक्त न हो तो

असुंदर ही कहा जाएगा। साहित्य, संगीत, कला की सच्ची सफलता पसंद की गई वस्तु की उपयुक्तता पर आश्रित रहती है। रसोई में थोड़ा-सा ज्यादा पड़ा हुआ नमक रसोई को अरसिक बना देता है। चित्र में पूँछ तो हनुमानजी को ही शोभा देगी। जो लोग नाटक में विदूषक की उपयुक्तता भूल जाते हैं वे नाटक की कला नहीं समझते। दरबार में किसी को सिंहासन पर बिठाकर अगर राजा खुद नीचे बैठेगा तो कैसा लगेगा? कई लोग कहते हैं कि 'पुरुष दाढी रखता है तो अच्छा लगता है, मूँछें मुंडा देने पर क्या अच्छा लगता है?' वाघरी या ढेढ जाति के लोगों की महिलाओं के गले में भला इक्कावन हार अच्छे लगेंगे? भवाई में ब्राह्मण का वेश धारण करने वाला काबा (एक जाति) ब्राह्मण के वेश को कैसा रसिक बनाता है? देव-मंदिरों में चिपकाए हुए नंगे-निकम्मे अथवा विदेशियों के बनाए हुए चित्रों की पसंद किस तरह की उपयुक्तता बताती है? वर राजा को गधे पर बिठाकर विवाह के लिए ले जाएँगे तो उस वाहन की उपयुक्तता का निर्माण करने वाला व्यक्ति गधे से तो ज्यादा ही रसिक माना जाएगा न! जो चीज किसी एक काल में उपयुक्त सिद्ध होगी वह दूसरे काल में जरूरी नहीं कि उपयुक्त हो ही! यह बात स्थल को लेकर है। स्थूल अथवा सूक्ष्म, एक दिशा में या सभी दिशाओं में, जीवन में यह उपयुक्तता अनुपयुक्तता का प्रदर्शन चतुर्दिक प्रत्यक्ष है। जो समझते हैं वे दोनों चीजों का आनंद ले सकते हैं।

सरस प्रस्तुति का चौथा अंग है सप्रमाणता याकि सम-तोलता। सप्रमाणता समान और असमान आकारों एवं चित्रोंविहीन चयन में निहित है। यह साम्य विरोध ऐसा होना चाहिए कि अगर साम्य को उलट दें तो विरोध बने और विरोध को उलट दें तो साम्य बने। अर्थात् ये दो दर्शन एक ही वस्तु के दो पहलू होने चाहिए, तत्त्व में तो इनकी एकरूपता होनी ही चाहिए। एक ही वस्तु की जिस तरह उल्टी-सीधी दो भुजाएँ होती हैं, उसी तरह यह साम्य-विरोध होना चाहिए, तभी सप्रमाणता की रसिकता आ सकती है। ऐसी रसिकता कहाँ है और कहाँ नहीं, इसे रसिक आँख ही देख सकती है, रसिक कान ही सुन सकते हैं और रसिक हृदय अनुभव कर सकते हैं। सप्तक के प्रथम सा में और अंतिम सा में इसीलिए मेल होता है और वे पास-पास रह सकते हैं। एक ही रंग के हल्के और गहरे साम्य की यही वजहें हैं। वृक्ष के ऊपर लता इसी न्याय से शोभा देती है। पुरुष में प्रकृति इसी

कारण से दिखाई देती है। बल में कोमलता सुंदर लगती है, इसका कारण भी कुछ और नहीं है। कई बार मतभेद की सुंदरता का कारण भी यही है। हरे पत्तों में लाल-पीले फूलों का या फलों का होना प्रकृति की सप्रमाणता की रसिकता का अपने-आप में एक नमूना है। प्रेम-कलह रसिकता की पराकाष्ठा है, ऐसी मान्यता का अर्थ भी यही होगा। माँ बालक को पीटती है और फिर चूमती है, बिल्ली चूहे को मारने से पहले उसके साथ किलोल करती है, इन स्थितियों में कहीं रसिकता तो नहीं है?

साम्य विरोध की प्रस्तुति में चढ़ते-उतरते का क्रम समा जाता है। |||||| इस प्रकार की जाली साम्य रसिकता का, |||||| इस तरह की जाली विरोध रसिकता का नमूना गिनी जाती है तथा |||||| इस तरह की जाली साम्य-विरोध रसिकता का उदाहरण मानी जाती है। इसमें साम्य-विरोध का चढ़ता-उतरता क्रम रहता है।

रसिक प्रस्तुति का अंतिम अंग है स्थान की व्यवस्था (स्पेसिंग)। स्थान की सज्ञा अर्थात् वस्तुएँ कितनी दूरी, कितनी ऊँचाई, कितने ढलते प्रमाण में या कितनी ढँक कर प्रस्तुत की जाएँ। स्पेसिंग के अभाव में एक सम्पूर्ण प्रस्तुति शुष्क लगती है। कई किताबें हाथ में उठाते ही आकृष्ट करती हैं तो कई हाथ में लेनी अच्छी ही नहीं लगतीं, इसका कारण भी स्पेसिंग की रीति से किया गया मुद्रण कार्य है।

'कुमार' पत्रिका स्पेसिंग के कारण ही आकर्षक बनती जा रही है। स्थापत्य कला में तथा चित्रकला में स्पेसिंग महत्त्व की चीज है। शहरों की स्थापना में आजकल स्पेसिंग पर बहुत ध्यान दिया जा रहा है। नाटक में, सवारी में, फौज में स्पेसिंग पर बहुत ध्यान दिया जाता है। काव्य और साहित्य में कड़ियों और चरणों का स्पेसिंग ही तो है। शाला में विद्यार्थियों की बैठक व्यवस्था कैसी हो, यह भी स्पेसिंग का विषय है। अमुक वस्तु को कहाँ स्थान देने पर वह सुंदर लगेगी, सही दिखेगी, इस पर विचार करना स्पेसिंग की कला है।

ये तमाम बातें ध्यान में रखते हुए प्रस्तुति की जाएगी तो विद्यालय, मंडप, दरबार, मंदिर या राजमहल सुंदर दिखाई देंगे। ❑

नवाँ प्रकरण

शाला का शृंगार

आज की हमारी शालाओं को हम बहुत सादे, खर्च रहित या कम-व्यय वाली विधियों से सजा सकते हैं।

शृंगार की आवश्यक भूमिका स्वच्छता होनी चाहिए। जाले पड़े हों, जहाँ-तहाँ पपड़ियाँ उतरी हुई हों, छत पर पक्षियों के घोंसलों में चिथड़े लटक रहे हों, दीवारों पर स्याही की लकीरें और दाग मंडे हों या जमीन पर पलस्तर उखड़ गया हो ऐसी जगह को पहले स्वच्छता के द्वारा सजाना चाहिए। शाला में शृंगार के बतौर और कुछ उपस्कर-फर्नीचर न हो (फूलदानियाँ न हों, गमले न हों, चित्र न हों, सुभाषित न हों) तब भी अगर उसका आँगन और दीवारें साफ-स्वच्छ होंगी तो सुंदर लगेंगी। बच्चों को वहाँ बैठना अच्छा लगेगा। उनके मन की प्रसन्नता बढ़ेगी। प्रत्येक साफ-सुथरी जगह के प्रति हमारा ऐसा ही अनुभव होता है।

साज-सज्जा और शृंगार को विद्यालय में स्थान देने से पहले स्वच्छता के साथ व्यवस्था की जरूरत है। जूतियाँ जहाँ-तहाँ बिखरी हों, टेबल-कुर्सी ढंग से न रखे हों, बच्चे भी जहाँ-तहाँ बेढंगे तरीके से बैठे हों, कागज बिखरे हुए हों, ऐसे में फूलदानियों, गमलों, चित्रों और तोरणों का शृंगार कितना बेढंगा लगेगा। अतः प्रत्येक विद्यालय साज-सज्जा व शृंगार का सम्मान करने के साथ-साथ जूतियाँ खोलने का एक स्थान तय करके रखे, कागज न बिखरने दे, उन्हें उठा कर टोकरी में डालने का ध्यान रखे, टेबल-कुर्सियाँ कमरे की लंबाई-चौड़ाई को ध्यान में रखते हुए अच्छे ढंग से सजाएँ तथा चॉक से गोलाकार या सीधी लकीरें बनाकर बच्चों को बिठाया जाए!

विद्यालय के शृंगार के लिए इतनी प्राथमिक तैयारी जरूरी है। अब शृंगार की सामग्री ढूँढ़ी जाए। दो तरह की सामग्री उपलब्ध है : एक स्थाई, दूसरी चालू। पहले स्थाई सामग्री सजाएँ। हमारे पुराने देसी भरत-काम किए हुए चाकळा (कशीदा किया हुआ कोई शो-पीस) तथा दो-एक चाँदनियाँ शाला की दीवारों को टाँकी जाएँ तो शाला अच्छी लगे। शाला की दीवारों पर खड़िया मिट्टी की पुताई करवाकर पीली

मिट्टी की लकीरें खिंचाई जा सकती हैं। आसानी से बन सकें तो पीली मिट्टी से बेलें, मोर व तोते भी बनवाए जा सकते हैं। मोर के पंखों से शाला की दीवार पर कलात्मक रचना की जा सकती है। अगर हृदय की उपज हो तो किसी भी शाला में ऐसी शोभादायी चीजें सँजोई जा सकती हैं। शहरों के और धनिकों के विद्यालयों में चित्र टाँगे जा सकते हैं।

शाला के कमरों को भी अलग-अलग ढंग से सजाया जा सकता है। एक कोने में सागर की शंख-सीपियाँ, दूसरे कोने में पीतल का कलश, या फिर चित्रित किए हुए माटी के चढ़ते-उतरते क्रम में रखे गए घड़े; तीसरे कोने में सुखाया हुआ बाजरी या ज्वार का सिट्टा और चौथे में छेदों वाला माटी का घड़ा रखकर सजावट की जा सकती है। इस तरह सजावट की कितनी ही साधारण चीजों पर अगर कोई विचार करे तो ध्यान में आ जाएगी। इन सब का बारी-बारी से उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक शाला में ये तमाम चीजें उपलब्ध की जा सकती हैं, और गाँवों में तो आसानी से उपलब्ध हो सकती हैं। शहर में भी बनने वाली असाधारण पुरानी या नई वस्तुएँ सजावट की सामग्री बन सकती हैं।

फूलदानों से विद्यालय को सजाया जा सकता है। गाँवों में और जहाँ पैसा न हो वहाँ माटी के कलशों में पानी भरकर उनमें वनस्पति की डालियाँ, पत्ते व फूल आदि रखे जाएँ तो शोभादायी होंगे। पीतल के कीमती बरतन भी शाला को मिल सकें तो उन्हें भी कोनों में रखकर विद्यालय का शृंगार किया जा सकता है।

गाँवों में या जिन शालाओं के आसपास वनस्पति हो, उन शालाओं को वनस्पति की डालियों से रोजाना सजाया जा सकता है। पीपल, नीम, आकड़ा, पलाश और ऐसे ही वृक्षों के पत्तों को तोरण की भाँति सजाया जा सकता है दीवारों पर भी पलाश और आक के पत्तों को नयी आकृति में चिपका सकते हैं; कनेर, आवल, बावल, केर आदि के फूलों से भी फूलदान को भरकर दीवारों पर सजाया जा सकता है। उनमें अधिक कीमती पत्ते जैसे कि आम या अशोक के मिलें तो उन्हें भी काम में लाया जा सकता है। फूलों के लिए भी।

एक स्वच्छ, व्यवस्थित तथा थोड़ी-बहुत सजावट से शोभायमान शाला में जाकर बैठना कैसा अच्छा लगता है! हम शाला को धीमे-धीमे सजाते चलें। इससे

बालकों की दृष्टि भी बढ़ेगी, ज्ञान-समृद्धि भी चढ़ेगी। शाला फकत पढ़ाई का स्थान न रह कर जीवन-विकास का स्थान बनने लगेगा।

यह काम हमारे हाथ में है। पहले हम इसकी उपयोगिता को समझें। यह दृश्य देखकर इसके आनंद को अनुभव करें। इसके पीछे श्रम करें। हमारी शाला हमें और बालकों को प्रिय लगने लगेगी।

बालक स्वयं पत्ते लाने, उनके तोरण बनाने, खूँटियों में टाँगने, साफ-सफाई करने, सजाने आदि में रुचि लेंगे। ऐसे काम उन्हें अच्छे लगते हैं। वे अपने आप करने लगेंगे, करते-करते अनुभव से उन्हें बहुत जानने को मिलेगा और जब भलीभाँति सजाई हुई शाला में हम और हमारे बच्चे पढ़ने-पढ़ने बैठेंगे तो हमें आनंद आएगा, हम प्रसन्नता से पढ़ाएँगे और बालक एकाग्रता से पढ़ेंगे।

हमे शाला में थोड़ा-सा पहले जाने की जरूरत है। बच्चे तो पहले ही आ पहुँचेंगे। फिर सब मिलकर साफ-सफाई करें। सरस्वती की उपासना करें। सरस्वती हमारे ऐसे उज्ज्वल मंदिर में तत्काल आएगी। ❑

दसवाँ प्रकरण

प्रकृति का परिचय

प्रकृति का परिचय शाला में नहीं, वरन शाला से बाहर दिया जाना चाहिए। आज प्रकृति का परिचय शाला में दिया जा रहा है, यह स्थिति शोचनीय है, पशुओं और पक्षियों की बातें कविता में या किताबों के पाठों में समाप्त हो जाती हैं। पढ़ने वाले छात्र प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में उड़ने वाले पक्षियों में से कौवों-चिड़ियों को छोड़कर दूसरों को शायद ही जानते-पहचानते होंगे। पक्षी-जगत की तरफ तो उनका ध्यान जाता भी नहीं। तारों के पाठ ज्यादा से ज्यादा परीक्षा पूरी होने के साथ ही पूरे हो जाते हैं। घर के बाड़े में सोए-सोए शाम से सुबह तक सिर पर दिखाई देने वाले अनेक तारों में से किसी एक की भी विद्यार्थी को जानकारी नहीं होती। जंगल के पशुओं की बातें और उनकी आदतों के बारे में शायद बालकों को कुछ याददास्त हो, पर शायद ही उनमें से किसी को उन्होंने जंगल में या जंतुआलय में देखा होगा। दो-चार फूलों के सिवाय बाग के या जंगल के सैंकड़ों फूलों से बच्चे केवल अनजान होते हैं। जंतु-सृष्टि की तो कदाचित उन्हें जानकारी भी नहीं होती। संक्षेप में कहा जाए तो आज के विद्यार्थियों को प्रकृति की जानकारी अत्यंत अल्प मात्रा में होती है। प्रकृति और मनुष्य दोनों अलग नहीं हैं। दोनों उस एक ही सिरजनहार की अलौकिक सृष्टि है। मनुष्य ने आज तक प्रकृति के बीच रह कर, प्रकृति की सेवा करके, प्रकृति से प्राण प्राप्त करके, प्रकृति के साथ मित्रता करके और कभी-कभार प्रकृति पर विजय प्राप्त करके अपनी प्रगति की है। प्रकृति ने मनुष्य को काव्य की कल्पना दी है, शारीरिक बल के पोषक तत्त्वों की प्रतिपल भेंट दी है तथा सुख के अनेक साधन उदारतापूर्वक उपलब्ध कराये हैं। ऐसी उदार प्रकृति से हम निरंतर दूर जाते जा रहे हैं, किताबी पढ़ाई से यह दूरी और अधिक बढ़ती जा रही है। समझदार लोग प्रकृति का ज्ञान देने के लिए किताबों में पाठ रखते हैं और पढ़ने वालों को प्रकृति से विमुख बनाने की गलती कर रहे हैं। वस्तुतः प्रकृति का लाभ लेने के लिए हमें प्रकृति के पास जाना चाहिए, प्राणवान प्रकृति के पास बैठना चाहिए, उसकी सेवा करनी चाहिए।

बालक को ठेठ बाल्यावस्था से ही प्रकृति के परिचय में लाने की व्यवस्था होनी चाहिए। खुशनुमा हवा में आँगन में लेटे बालक को मौसम का मंद-मधुर अनुभव होता है। पलने में लेटे-लेटे ऊपर अधर आकाश को देखते-देखते बालक अनंत आकाश का दर्शन करता है। तभी तो वृक्षों के पत्तों की खड़खड़ाहट, पवन की सरसहाहट या पक्षियों की चहचहाहट बालक के कान को आनंद देती है। कोमल धूप, झीनी-झीनी उषा-संध्या, गुलाबी ठंडक आदि प्रकृति के तमाम बल बालक का पोषण करते हैं। पंच तत्त्व द्वारा उत्पन्न यह देह पंच तत्त्वों से ही निरंतर पोषित होती है तथा बढ़ती है। प्रकृति के प्रांगण में निवास करने वाले आदिवासी लोगों के बच्चों को यह लाभ प्रतिदिन स्वाभाविक रूप से मिलता है। शहर में यह लाभ मिलना बंद हो गया है। इसका बदला किताबों के पाठों से नहीं मिल सकता।

जिस प्रकार प्रकृति स्वाभाविक है उसी प्रकार इसका परिचय भी स्वाभाविक होना चाहिए। पिंजड़ों में बंद पक्षियों या पशुओं का अध्ययन प्रकृति का परिचय नहीं है। किताबों में खिंचे हुए आकाश के नक्शे प्रकृति के परिचायक नहीं हैं। बाड़े में पड़े पत्थरों की ढेरी के पहाड़ बनाकर तथा घर के मटके का पानी गिराकर उसकी बगल में बनाई गई नाली से पर्वत एवं नदी का परिचय नहीं दिया जा सकता। प्रकृति-परिचय के लिए बालक को और विद्यार्थियों को शहर के बंद कैदखाने से विशाल धरती पर, दो हाथ पहुँचे जितनी दृष्टि मर्यादा में से नजर न पहुँचे जितनी दूर वाले क्षितिज के सामने, मिलों-कारखानों के शोरगुल से मधुर-कंठ वाले पक्षियों के बीच, उकरड़ी पर बैठे गधों और पानी की पखाल खींचते पाडों से छलांग मारकर चौकड़ी भरते हरिणों के पास, नाबदान और गंदगी की ढेरी के पास से खिलखिलाती बहती नदियों और गगन चुम्बी पहाड़ों-पहाड़ियों के पास ले जाना चाहिए। वहाँ उन्हें प्रकृति के सौंदर्य का पान करने के लिए खुला छोड़ देना चाहिए।

विद्यार्थियों के साथ शिक्षक जाएँ और कदम-कदम पर उन्हें इधर देखो, उधर देखो कहते हुए उनके दिमाग में प्रकृति का ज्ञान ठूँसते हैं तो यह शिक्षण नहीं कहा जाएगा। प्रकृति का ज्ञान चाहे किताबों में हो या भले ही शिक्षक के शब्दों में हो, प्रकृति का परिचय तो प्रत्यक्ष ही होना चाहिए। शिक्षक के शब्द और किताबें तो एक तरह से विपर्यय-रूपी हैं। हरी-भरी जमीन पर पड़े-पड़े जब विद्यार्थी वसंत की कोमल धूप में तपते हैं तो उन्हें प्रकृति का परिचय मिलता है। पेड़ों के नीचे बैठकर

जब बालक वह कोयल बोली, वह बुलबुल बोली, वह टुक-टुक बोलता है, यों कहते हुए एक-एक पेड़ और डाली-डाली पर जब पक्षियों की तलाश करते हैं, उन्हें देखते हैं, तब प्रकृति का परिचय होता है। कल-कल बहती नदियों में जब बालक जी भर कर नहाते हैं और बार-बार विश्राम लेते हुए पहाड़ों पर चढ़कर धरती का सौंदर्य निहारते हैं, तो ऐसे बालक ही प्रकृति का परिचय साध सकते हैं। अंधेरी रात में तारों को देखते-देखते मैदान में कब नींद आ गई, इसका पता लगे बिना ही सो जाने वाले बालक आकाश के परिचय का आनंद लेते हैं। संक्षेप में, प्रकृति में उन्मुक्त भाव से विचरण करते, खेलते विद्यार्थियों को ही प्रकृति का सच्चा परिचय हो पाता है। घंटों तलक समुद्र की लहरों को पैरों से टकरा कर जिन विद्यार्थियों ने वापिस लौटने का अनुभव किया है, ज्वार-भाटा देखकर जिन विद्यार्थियों ने सागर की लहरों को जाना है, भाटा आने के बाद की रेत में जिन छात्रों ने लकड़ी के टुकड़े से नए-नए चित्र बनाए हैं, उन्होंने कितनी ही पाठ्य पुस्तकों में भरा हुआ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अर्थात् प्रकृति का ज्ञान जिस स्थान पर पड़ा है, वहाँ जाने वालों को वह खुले रूप में बिना मूल्य उपलब्ध होता है, जबकि किताबों में भरा ज्ञान बंद है, किताब की कीमत देने पर ही उपलब्ध है और वह भी तोता-रटंत वाला ज्ञान है।

प्रत्येक घर और शिक्षण संस्था के सामने प्रकृति-परिचय का विषय रहना चाहिए। इसका अभ्यासक्रम आज के अभ्यासक्रम जैसा सख्त बेड़ी रूपी नहीं अपितु दिशा-सूचक होना चाहिए। प्रकृति परिचय में निम्न बातों का समावेश किया जा सकता है :

1. पशु-पक्षियों तथा जंतुओं का परिचय, पक्षियों का अध्ययन।
2. पेड़-पौधों का सामान्य ज्ञान और अध्ययन।
3. नदी, खड्डों, पर्वतों एवं झरनों का सामान्य परिचय तथा अध्ययन।
4. तारों का परिचय व अध्ययन।
5. खेतों, सागर किनारों, मैदानों, जंगलों आदि का परिचय तथा अध्ययन।

परिचय को अध्ययन से अलग रखा जा सकता है। खुली आँखों और खुली इन्द्रियों से घूमने-फिरने वाले विद्यार्थी परिचय प्राप्त कर सकते हैं। परिचय प्रचुर भ्रमण से प्राप्त होता है। जिनकी इन्द्रियाँ विकसित नहीं हैं, वे घूमने पर भी, कुछ देख नहीं

सकते। अनुभव नहीं कर सकते। रंग-बिरंगी नीलकंठ उनकी आँखों के सामने से गुजर जाती है, फिर भी उनकी आँखें उनके रंगों को नहीं पकड़ पातीं। हरिण उनके पास से चौकड़ी भरते निकल जाते हैं फिर भी उनकी दौड़ या उनकी छलांग उनकी आँखों को मजा नहीं दे पाती। समुद्री हवा, पहाड़ी हवा या जंगल की हवा का फर्क उनकी त्वचा को महसूस ही नहीं होता। पृथ्वी, फूल आदि गंध वाले पदार्थ उनकी नाक तक आकर लौट जाते हैं। इन्द्रिय-शिक्षण प्रकृति-परिचय और अध्ययन के लिए अत्यावश्यक वस्तु है और इसका प्रबंध प्रकृति-शिक्षण देने के इच्छुक माता-पिता और विद्यालयों को सबसे पहले करना चाहिए। इन्द्रिय-शिक्षण से विहीन विद्यार्थी बड़ी उम्र में जब प्रवास पर जाते हैं या स्काउटिंग में जाते हैं तो उन्हें बहुत कम ज्ञान प्राप्त होता है, उतना कुछ प्राप्त करने में भी उनको मेहनत पड़ती है। प्रकृति का ज्ञान सहज रूप में इन्द्रियों को प्राप्त नहीं होता। उस समय उन्हें इन्द्रियों के शिक्षण का काम साथ-साथ करना पड़ता है। आनंद की दृष्टि से बहुत कम आनंद इस तरह के विद्यार्थी प्रकृति-परिचय द्वारा प्राप्त कर सकते हैं; विद्यार्थियों को प्रवास पर ले जाने वालों का अनुभव होगा कि विद्यार्थी भ्रमण द्वारा नई-नई चीजें ढूँढ़ने का आनंद लेने के बजाय या तो बेकार की दौड़ाभागी करते हैं अथवा आवास-स्थल पर पड़े-पड़े धींगा-मस्ती करते हैं और वह नहीं करते तो ताश खेलने में अपना समय व्यतीत करते हैं। जिन छात्रों का इन्द्रिय-शिक्षण नहीं हुआ हो, उन्हें प्रवास पर ले जाने से पहले प्रकृति के आँचल में क्या-कुछ देखना चाहिए, इस बारे में व्याख्यान द्वारा जानकारी देनी चाहिए तथा प्रकृति संबंधी चित्रों से उनकी बुद्धि को सतेज करनी चाहिए। इसके विपरीत जिन छात्रों की इन्द्रियाँ संस्कारित होती हैं उनको लेकर घूमना ही काफी होता है। प्रकृति खुद ब खुद उनको अपनी बातें कहने लगेंगी तथा शिक्षक अथवा घुमाने वाला व्यक्ति जितना उनसे दूर रहेगा, उतनी ही वे प्रकृति की बातें ज्यादा सुनेंगे।

घूमने के साधनों की गणना करें तो रेल, मोटर, घोड़ागाड़ी, साइकिल, गाड़ा, तथा पैर—इतने सारे साधन हैं। जब-जब भी विद्यार्थियों को समय हो, तो उन्हें पैरों से चलकर प्रवास करना चाहिए, वही सर्वोत्तम होता है। इससे प्रत्येक बातों का जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह दूसरी तरह से नहीं होता। पैरों द्वारा यात्रा करने में जब-जहाँ अच्छा लगे तब वहाँ रुककर कम या अधिक समय तक अवलोकन किया जा सकता है। पैरों की यात्रा में विद्यार्थियों का और रीति से भी निर्माण होता है। स्काउटिंग में ज्यादातर चलना ही होता है और इसमें बड़ा गहरा

रहस्य है। दूसरे नंबर पर गाड़े की यात्रा है और आखिरी नंबर पर रेलगाड़ी की यात्रा है। फिर भी दूर-दूर के स्थानों को रेलगाड़ी से पहुँचे बिना प्रकृति की भव्य सृष्टि तक पहुँचा भी नहीं जा सकता। वहाँ तक तो इस युग के द्रुतगामी साधनों की ही जरूरत पड़ती है। आज के जमाने में समय बचाने के लिए भी ये यांत्रिक साधन जहाँ हमारा हेतु सिद्ध कर सकते हैं वहीं उपयोग में लाने लायक भी हैं। पर आज के यात्रीगण रेल में बैठकर पूरा हिंदुस्तान घूमकर घर लौटते हैं। वैसे विद्यार्थी घर आने के बजाय रेल के डिब्बों में स्टेशन पर ही बैठे रहें तो बुरा क्या है! द्रुत गति से भागने वाले साधन प्रकृति की विशालता और विविधता को थोड़े समय में ही बता सकते हैं। जिनका प्रकृति से अनुराग बढ़ गया है, जो अपनी चंचल इन्द्रियों के द्वारा प्रकृति के सौंदर्य का आस्वादन कर सकते हैं, ऐसे बड़े विद्यार्थियों का मोटर या साइकल के द्वारा घूमना लाभदायी रहता है। प्रकृति-परिचय के लिए रेल के बजाय मोटर का प्रवास ज्यादा अनुकूल सिद्ध होता है। रेल तो हमें एक निश्चित स्थल तक ही ले जाएगी, जबकि मोटर या साइकिल के द्वारा हम अपने निश्चित स्थान तक पहुँच सकेंगे। फिर भी प्रकृति के गहन परिचय तथा अध्ययन के लिए कहीं न कहीं स्थाई पड़ाव डालकर अमुक समय तक रहना ही चाहिए। ऊपर कहा गया है कि शिक्षक और माता-पिता को प्राकृतिक स्थान देखकर बैठ नहीं जाना चाहिए, अपितु बालकों को प्रकृति में विचरण करने देना चाहिए। ग्रहणशील इन्द्रियों वाले बालक प्रकृति को समझने लगेंगे। उनकी सहायता के लिए साथ जाने वाले प्रकृति-प्रेमी हों, यह जरूरी है। कोई साथ न हो, तो मात्र प्रवास की व्यवस्था करने वाले प्रकृति-अरसिक लोग नुकसान कर बैठते हैं। प्रकृति प्रेमी साथी अपने ढंग से प्रकृति का अवलोकन करते हैं, देखते-देखते स्वतः कुछ उद्गार भी व्यक्त करते हैं, घर लौटकर आराम करते समय या खाना खाते समय प्रकृति के संबंध में जब वे प्रस्तावनापरक बातें करते हैं तो विद्यार्थियों को प्रकृति के अवलोकन की नूतन दृष्टि मिलती है तथा नए-नए क्षेत्र उघड़ते हैं। प्रकृति के बारे में भाषण या व्याख्यान के बजाए ऐसी प्रस्तावनापरक मुक्त बातें बहुत उपयोगी होती हैं। प्रकृति-परिचय का विषय बालकों के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से न आए वरन वह अप्रत्यक्ष ही रहे। इसका यह अर्थ है कि बालकों को स्वयं प्रकृति का अवलोकन करना है, ऐसा ध्यान उनके मन में बार-बार बना रहे। विद्यार्थियों को ऐसा ध्यान दिलाने की जरूरत नहीं है।

कुदरत के बीच उन्हें छोड़ दें, जिस तरह हवा में श्वासोच्छ्वास चलती है, वैसे ही उन्हें स्वतः प्रकृति-परिचय होता रहेगा।

प्रकृति-परिचय से ओतप्रोत हुए विद्यार्थियों के निमित्त प्रकृति का अध्ययन खुल्ला हो जाता है। ऐसे समय प्रकृति का अध्ययन करने वाले किसी साथी की जरूरत पड़ती है। 'देखो, ये यहाँ हरिण के पैर गए हैं; ये सियार के हैं और वे तीतर के।' यों बताने वाले के बगैर प्रकृति का अध्ययन संभव नहीं है। साथ में आने वाला प्रकृति का अध्येता प्रकृति के प्रत्येक नए दर्शन के समय विद्यार्थी का ध्यान आकृष्ट करेगा। 'यह घोंसला बया का है। देखो, किस तरह बनाया है? कितना ऊँचा है? कैसे पदार्थ अंदर रखे हैं? कैसे वृक्ष पर है? कितने अंडे हैं उसके? किस रंग के हैं?' 'यह सागर तट की रेत कहाँ से आई है? ये चट्टानें पानी के कारण किस तरह घिस गई हैं? यह जमीन नदी के मुँह के सामने किस तरह भरती जा रही है?' 'यह अशोक का पत्ता आम के पत्ते से किस तरह अलग है?' और 'यह चंदन का पत्ता बोरड़ी के साथ किस तरह मेल खाता है?' 'देखो, शाम के समय पर्वत के ऊपर कैसे रंग दिख रहे थे और सागर तट पर खड़े-खड़े कैसे दिख रहे हैं?' यों कहते हुए प्रकृति का अध्ययन जीवंत बना देने वाला व्यक्ति प्रवास में हमारे साथ होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति के बगैर प्रवास बेकार जाता है।

प्रकृति का अध्ययन दृढ़ करने का साधन है प्रकृति का परिचय संगृहीत करना। प्रकृति का अनुपम सौंदर्य या प्रकृति का प्रभाव या प्रकृति की महत्ता या प्रकृति का दिव्य दर्शन तो मनुष्य अपने हृदय में भर लेता है, नोट-बुक के पन्नों में या संग्रहस्थल पर उसे लाया नहीं जा सकता। पर कितनी ही स्थूल चीजों को संगृहीत किया जा सकता है और उनका संग्रह करना चाहिए। पक्षियों के नीचे गिरे हुए पंख, खाली अंडे, पत्ते, फूल, शंख, सीपियाँ, पत्थर आदि नन्हीं-नन्हीं प्राकृतिक संपदा को संगृहीत किया जा सकता है। प्रकृति का संग्रहालय प्रत्येक घर में होना चाहिए। प्रत्येक विद्यालय के लिए तो वह अनिवार्य ही है। प्रकृति में घूम आने वाले विद्यार्थी उस संग्रह को देखकर अपनी स्मृति ताजा करेंगे तथा अपनी वैज्ञानिक दृष्टि का अध्ययन व्यापक बनाएँगे। प्रकृति संबंधी अध्ययन को पुष्ट करने के लिए प्रकृति विषयक पुस्तकों एवं चित्रों का अवलोकन एक और साधन है। प्रकृति के अध्ययन के लिए प्रथम प्रकृति-परिचय और तदुपरांत पुस्तक-वाचन महत्त्व रखता है। प्रकृति का चित्र-दर्शन प्रकृति-परिचय कुरेदने की दृष्टि से मददगार है, अतः उसका स्थान

प्रकृति के अध्ययन में पहले भी है और बाद में भी। प्रकृति का अध्ययन अन्य विषयों की भाँति पढ़ाकर कराने की बजाय जो बालक प्रकृति के बीच घूम आए हैं, उन्हें उससे संबंधित किताबें देकर वाचन कराया जा सकता है। जिस तरह विद्यार्थी स्वेच्छा से भ्रमण करते हैं, तथा प्रकृति का अवलोकन-आस्वादन करते हैं, वैसे ही उन्हें स्वेच्छया पुस्तकों द्वारा प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

प्रकृति के अध्ययन का एक पक्ष 'ऐसा किसलिए?' अथवा 'ऐसा क्यों?' अर्थात् बौद्धिक जिज्ञासा के प्रदेश का है। प्रकृति के इस पक्ष का अध्ययन शिक्षक के व्याख्यान द्वारा क्रमिक अभ्यासक्रम या क्रमिक वाचन द्वारा हो सकता है। तर्क-शुद्ध रीति से वस्तु को समझाने वाला शिक्षक प्रकृति के रहस्यों को समझाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। ऐसा शिक्षक वैज्ञानिक अभिवृत्ति का होना चाहिए। वह प्राकृतिक घटनाओं के पीछे निहित कारणों को रटाने वाला नहीं हो अपितु प्रत्यक्ष कराने वाला होना चाहिए। इसी भाँति शिक्षक का स्थान भरने वाली सरल, केवल वैज्ञानिक दृष्टिवाली तथा काव्यमय शैली में लिखी विवरणात्मक पुस्तकें भी प्रकृति के अध्ययन में मददगार हो सकती हैं। इसी तरह हमारे घरों और विद्यालयों को प्रकृति का परिचय एवं अध्ययन संभव कराना चाहिए। कल नहीं, आज से ही हमें इसकी शुरुआत करनी है।

: 2 :

यह अच्छी बात है कि अध्यापक गण विद्यार्थियों को शाला से बाहर भ्रमण के लिए ले जाते हैं। शाला की कैद से छूट कर नाचते-कूदते विद्यार्थियों को देखने में मजा आता है। उनको जरा-सी मुक्ति मिलते ही, उससे उनका दिल किस कदर खिल उठता है। वे विद्यालय वे शिक्षक के प्रति और ज्यादा प्रेमिल एवं अभिमुख बन जाते हैं।

बाहर निकलने वाले बालकों को शिक्षक क्या-कुछ बताएगा? क्या-क्या सिखाएगा?

जंगल में घुमाने ले जाकर विद्यार्थियों को वहाँ क्या-कुछ बताया जाना चाहिए। शिक्षक उनको पशु, पक्षी, और वनस्पति-सृष्टि के परिचय में ला सकता है खेल-खेल में।

एक तो तरह-तरह के पक्षियों से पहचान कराए। उनके रंग, पंख, अंडे, घोंसले, उड़ने का तरीका, गाने या चहचहाने की रीति विद्यार्थियों को बताए और इनमें बालक को आनंद लेने की प्रेरणा दे। पक्षियों के परिचय की एक बार शुरुआत होते ही बच्चे अपने आप रुचि लेने लगेंगे। बच्चों को नए देखे हुए पक्षियों के नाम लिखने और उनसे संबंधित जानकारी के लिए नोट बुक रखने हेतु प्रेरित किया जाए।

इसी भाँति बालकों को वन के पशुओं की जानकारी के मार्ग पर ले जाया जाय। जंगल में विद्यार्थियों को रास्ते की तलाश सिखाना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए उनको पशुओं के पैरों के निशानों की पहचान कराई जाए। ये गाय के पैर, ये हरिण के इत्यादि। उस रास्ते से कौन जानवर गया है, यह दिखाना। आदमी के पैरों के निशान ढूँढ़ना भी सिखाना चाहिए अर्थात् कोई आदमी किसी रास्ते गया हो तो उसके खोज ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसका पता कैसे लगाया जाए, यह बताना। एक टुकड़ी एक तरफ गई हो तो उसके पीछे आने वाली टुकड़ी के लिए चिह्न कैसे लगाए जाएँ, रास्ते की दिशाएँ कैसे बताई जाएँ, यह शिक्षक बता सकता है। विद्यार्थी अमुक स्थान से अलग होकर वापिस अमुक स्थान पर पहुँचे, इसके लिए अमुक स्पष्ट निशानों को पहचानना सीखना, भ्रमण के लिए जाते विद्यार्थियों को यह शिक्षण भी भली-भाँति दिया जा सकता है।

बालकों को जंगल में ले जाकर वहाँ की वनस्पति और वनश्री का दर्शन कराना चाहिए। उन्हें तरह-तरह के पेड़ों के नाम बताए जाएँ। उनके पत्ते इकट्ठे करके उनको पहचानने का खेल खेला जा सकता है। उनके फल मिलें तो स्वाद लिया जा सकता है। जंगल में जाकर पेड़ों पर चढ़ने, झूलने और खेलने का मजा तो हर्गिज न चूका जाए।

वन में गए हुए विद्यार्थियों को दिशाएँ पहचानने की अलग-अलग विधियाँ बताई जाएँ! ध्रुव-काँटे का उपयोग, सूर्य, चंद्र व तारों द्वारा दिशा का ज्ञान कराया जाना चाहिए।

जब विद्यार्थी वन में फिरते हैं तो उन्मुक्त पक्षियों की भाँति विचरण करते हैं। उनकी जिज्ञासा और खोज वृत्ति को पर्याप्त छूट मिलती है। उन पर अनुशासन

या नियमन के आदेश नहीं लगाने चाहिए। उनको बार-बार ऐसा न कहें कि इधर चलो या उधर चलो। उनको खुला छोड़ दें : 'जाओ और देखो। क्या देखते हो ? क्या सुनते हो ? क्या छूते हो ? क्या जानते हो ? अपने अवलोकनों से अपनी डायरी भर लाओ। चित्रों से अपनी स्केच-बुक चित्रित कर लाओ। अपनी जेबों में संग्रहणीय नई-नई चीजें भर लाओ।' शिक्षकों को ऐसी प्रेरणादायी बातें कहकर विद्यार्थियों को रवाना करना चाहिए।

प्रकृति के परिचय में आने से विद्यार्थियों को रोकें नहीं। उनको नदियों के जल में नहाने दो, पहाड़ों पर चढ़ने दो, गुफाओं और कंदराओं में जाने दो। उनके भीतर विद्यमान साहसिक वृत्ति को बाहर निकालने के लिए उनके सामने अनेक क्षेत्र खुले छोड़े जाएँ।

प्राचीन मंदिर, खंडहर, बावड़ी, कुएँ आदि स्थल विद्यार्थियों को जरूर बताएँ। उनको देखने से उनके भीतर खोजबीन करने का शौक पैदा होगा। उन स्थलों पर खड़े होकर वहाँ से संबंधित ऐतिहासिक बातें उन्हें बताई जाएँ। इससे विद्यार्थियों की दृष्टि और ज्यादा ऐतिहासिक बनेगी।

जंगलों में घूमते-घूमते अगर किसी रात वहाँ रहने का कार्यक्रम बनाया जाए तो उससे विद्यार्थियों को और अधिक समृद्ध बनाने का अवसर मिल सकता है। घूमते-भटकते थके हुए विद्यार्थियों को विविध भाँति की सरस कहानियाँ कहनी चाहिए; चाँदनी में खेल खेलाए जा सकते हैं, वार्तालाप और विनोद का आनंद लिया जा सकता है, डांडिया रास, रास, नकली युद्ध आदि की प्रवृत्तियाँ आयोजित की जा सकती हैं।

ऐसे प्रसंगों में शिक्षक और विद्यार्थी बहुत नजदीक आ जाते हैं। विद्यार्थियों के हृदय कुछ झुके हुए होते हैं। ऐसे में शिक्षकगण उनके हृदय में प्रविष्ट होकर स्थाई रूप से स्थान बना सकते हैं। इस रीति से प्रिय बने हुए शिक्षक का शिक्षण और नियंत्रण दोनों निश्चित रूप से सफल होते हैं। ❑

ग्यारहवाँ प्रकरण

प्रदर्शन

कला-विकास का वातावरण देने के लिए शाला में अलग-अलग अवसरों पर प्रदर्शनों के आयोजनों की परंपरा अत्यंत जरूरी है। इन प्रदर्शनों का प्रदेश पर्याप्त व्यापक है। बालकों के बनाए चित्र, कैंची के काम, मिट्टी के काम में ही यह प्रदेश समाप्त नहीं हो जाता। प्रदर्शनों का हेतु बालकों के समक्ष प्रकृति तथा मनुष्य-वृत्ति का विद्यालय भवन के भीतर परिचय कराना है तथा उसके माध्यम से प्रमुखतया कला-सृष्टि का प्रदर्शन कराना है। बेशक बालकों के सृजन कला-प्रदर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, परंतु वे बालकों के लिए भी हैं और दूसरों के लिए भी। जबकि अन्य सर्जन बालक के लिए ही समझकर शाला में लाये जाते हैं।

सम्पूर्ण प्रकृति में जाकर मिल जाना, सम्पूर्ण मनुष्य-कृति को शाला के बाहर जाकर देखना, यह नन्हें बालकों के लिए संभव नहीं, लेकिन इन दोनों कृतियों का परिचय सर्जक वातावरण के बतौर देना आवश्यक है। इसीलिए शाला में प्रदर्शनों का स्थान रखा गया है। शाला में इसे एक नयी प्रथा माना जाता है, पर समाज में यह नई नहीं है। समाज अपने उत्सवों के साथ कलात्मक कृतियों के प्रदर्शन हमेशा करता आया है। देव-मंदिर के प्रत्येक उत्सव में होने वाले शृंगार इस तरह के कलात्मक प्रदर्शन ही हैं। वर यात्रा और ऐसे ही प्रसंग, रथ यात्रा, आदि भी ऐसे ही प्रकार हैं। इन सामाजिक घटनाओं से बालकों को कुछ देखने को मिलता है, परंतु छोटी उम्र में जिस रीति से कला का वातावरण उनके सामने आना चाहिए, उस रीति से नहीं आता, अतः इनके अवलोकन का बालकों को अपेक्षया कम लाभ मिलता है।

फिर संग्रहालय भी तो एक तरह की प्रदर्शनियाँ हैं। वे सामयिक नहीं अपितु स्थाई होते हैं अतः हमेशा देखने योग्य तथा उपयोगी होते हैं। पर संग्रहालय ज्यादातर संग्रह की दृष्टि से बनाए जाते हैं अतः उनमें अनेक प्रकार की सर्जनात्मक चीजें देखने को मिलती हैं, जिससे बाल-मन पर इनका असर बहुत ही ऊपरी और अव्यवस्थित होता है और इनके अवलोकन का कम लाभ मिल पाता है। कई बार संग्रहालय कला की दृष्टि से सजाए हुए नहीं होते। उनमें कलात्मक वस्तुएँ

अस्तव्यस्त और गड्डमड्ड पड़ी होती हैं, ऐसे में बालक कला का वातावरण ग्रहण नहीं कर सकते। बालक कला के वातावरण को चूस सकें, इसके लिए एक साथ अनेक कलाओं का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए तथा जो भी कला-विभाग प्रदर्शन के लिए सजाए गए हों, वे व्यवस्थित होने चाहिए।

घर में भी थोड़ी-बहुत कलात्मक वस्तुएँ होती हैं; बड़ों के लिए भी वे कलात्मक वस्तुएँ आनंददायी तथा वातावरण प्रदान करने वाली होती हैं। वे बड़ों के लिए निर्मित होने के कारण बालकों के लिए निष्फल जाती हैं। इस तरह कहना न होगा कि बालकों को कला का वातावरण घर पर, संग्रहालयों से तथा खुले रूप में प्रकृति के आँचल में मिलता जरूर है, पर वह सीमित मात्रा में होता है, ऐसे में विद्यालयों को उस कमी की पूर्ति करने का प्रयास करना चाहिए।

शाला में प्रदर्शनी रचने में पहली महत्त्वपूर्ण बात यह ध्यान में रहे कि एक समय में एक ही कलाकृति का प्रदर्शन किया जाए। विविध कलाओं का एक साथ प्रदर्शन करने से कला की समझ के विकास में स्तरीयता आ जाती है। प्रारंभ एक-एक कला के सादे प्रदर्शन से ही करना समीचीन रहता है।

ऐसे कलात्मक प्रदर्शनों के लिए हमें अलग-अलग प्रदेश खोजने हैं। मानवीय सृजन तथा प्राकृतिक सृजन दोनों क्षेत्रों से प्रदर्शनीय वस्तुओं पर विचार करें। सामाजिक उत्सवों से धान्य की विविध रांगोलियों का प्रदर्शन, कलशों आदि तांबे-पीतल के बर्तनों का प्रदर्शन, कपड़ों का प्रदर्शन, मिट्टी के बर्तनों का प्रदर्शन, भरत-कशीदाकारी का प्रदर्शन—ये सभी प्रदर्शनीय प्रदेश हैं। जीवन में जिन-जिन चीजों को हम काम में लेते हैं, उन सभी चीजों का एक-एक प्रदर्शन संभव है। सामान्यतया जिस रूप में चीजों को हम काम में लाते हैं, उनकी कलात्मकता अति परिचय के कारण हमारे ध्यान से बाहर रह जाती है। उन तमाम चीजों की कलात्मकता जब अमुक रीति से सजाई जाती है तभी सामने आती है। तभी वे बालकों, बड़ों, सभी का मन आकर्षित करती हैं और सभी के मन पर कला के वातावरण की छाप पड़ती है।

प्रत्येक दुकान, जहाँ कला की चीजें बेची जाती हैं, कला-प्रदर्शनी नहीं है क्योंकि वहाँ दृष्टि अलग होती है। यह दृष्टि बेचने की होती है, इसी दृष्टि से उनकी

प्रस्तुति होती है। इसी भाँति घर में जहाँ कलात्मक वस्तुएँ पड़ी होती हैं, वहाँ अलग दृष्टि होती है। यह दृष्टि चीजों को उपयोग में लाने की है, रखने की है। कलात्मक दृष्टि इन दोनों से जुदा होती है। अतः विद्यालयों में प्रदर्शनी स्थापित करने का तरीका दुकान और घर के भीतर पड़ी चीजों से जुदा होता है और वह दृष्टि भी जुदा होती है।

शाला में रोज-रोज प्रदर्शनियाँ लगाना संभव नहीं होता। हाँ, वह प्रदर्शनी का स्वाभाविक समय तय कर सकती है। वह कला की दृष्टि से सामयिक उत्सव आयोजित करके उसके साथ प्रदर्शनी को जोड़ सकती है। हमारे उत्सव प्रदर्शनी के प्रसंग होते हैं। उत्सवों को हम समाज में दूसरी तरह से मनाते हैं। उनका कलात्मक अंग हमें प्रदर्शनी के रूप में आयोजित करना चाहिए। ऐसे उत्सवों के प्रसंगों को हमारे समाज और धर्म ने पर्याप्त संख्या में निर्मित किया है, हमें उन सभी का लाभ उठाना चाहिए। उत्सव की शोभा बढ़ाने वाली प्रदर्शनी ही उपयोगी सिद्ध होगी, यह ध्यान रखें। होली की प्रदर्शनी अलग ढंग की और दीवाली की अलग तरह की होनी चाहिए। दोनों प्रदर्शनियाँ अपनी शैली में तो भिन्न हों ही, द्रव्यों में भी जुदा-जुदा हों।

ऋतुओं के अनुसार भी प्रदर्शन का समय रखा जा सकता है। जब वर्षा ऋतु में तरह-तरह की घास और फूल खिल जाते हैं तो उन सबकी एक अलग ढंग की सुंदर प्रदर्शनी हो सकती है। इसी ऋतु में बाड़ी-बाड़ी पैदा होने वाले ग्राम-फूलों की एक और प्रदर्शनी हो सकती है तो ऋतु-ऋतु में पैदा होने वाले फूलों की तीसरी प्रदर्शनी हो सकती है। फूलों की प्रदर्शनी एक सामयिक प्रदर्शन है।

इसी भाँति ऋतु-ऋतु में पकने वाले धान्य का प्रदर्शन भी प्रदर्शनी में आ जाता है। इसी भाँति प्रकृति हमें समय-समय पर फूलों-पत्तों का जो उपहार देती है, उसे स्वीकार करते हुए, बालकों के समक्ष उसे एक ही स्थल पर प्रस्तुत किया जा सकता है तथा इस तरह प्रकृति की शोभा एवं उदारता का प्रदर्शन किया जा सकता है।

प्रकृति में मात्र वनस्पति ही नहीं है। अनेक रंगों के पत्थर भी हमें एक प्रदर्शन-सामग्री उपलब्ध करा सकते हैं, सागर तट के शंख-सीपियों में से भी कितने ही उपहार प्रदर्शित किए जा सकते हैं। तरह-तरह की साग-भाजियों की एक अलग प्रदर्शनी हो सकती है। बीजों का भी प्रदर्शन किया जा सकता है।

जिसे यह पता हो कि प्रकृति के आँचल से कितनी ही तरह की सामग्री बटोर कर प्रदर्शित की जा सकती है, वे तो पंखों, रेत, माटी, पक्षियों के घोंसलों, जीव-जंतुओं के घरों तथा आवास स्थलों का उपयोग कर सकते हैं।

प्रकृति में स्थान-स्थान पर कला और विज्ञान उपलब्ध हैं। एक प्रदर्शन कला की दृष्टि से तो दूसरा विज्ञान की दृष्टि से; तथा दोनों प्रदर्शन कला-विज्ञान की दृष्टि विकसित करने के लिए हमेशा महत्त्व का स्थान रखते हैं।

प्रकृति को छोड़कर मनुष्य द्वारा निर्मित रचनाओं पर गौर करें तो उनके भी कितने ही प्रदर्शन हो सकते हैं। मिट्टी की चीजों के, लकड़ी की चीजों के, चाँदी की चीजों के, पीतल की चीजों के, लोहे की चीजों के, सोने-चाँदी-माणक-मूंगों के, वस्त्रों, कढ़ाई, सिलाई, बुनाई के, कपड़ों की छपाई और चित्रकला आदि के, इसी भाँति आज जो अनेक तरह की कला-कारीगरी के काम हो रहे हैं, उन सब के प्रदर्शन किए जा सकते हैं। प्रत्येक विषय की अलग-अलग प्रदर्शनियाँ लग सकती हैं।

इन प्रदर्शनियों से बालकों को जानकारी मिलेगी कि प्रकृति में क्या-क्या उपलब्ध है तथा मनुष्य की सृजनशीलता में कितनी विविधता है। बाजार में या प्रकृति के प्रांगण में बालक घूमता है, पर वहाँ उसके सामने कलात्मक दृष्टि से ये वस्तुएँ रखी हुई नहीं होती, वरन बिखरी हुई पड़ी होती हैं। कला अर्थात् मनुष्य के माध्यम से प्रकृति के बलों का प्राकट्य। ऐसा अर्थ लेंगे तो प्रदर्शन के माध्यम से ही हम, प्रकृति और मानवीय रचनाओं को प्रस्तुत करके कला के विविध प्रकारों में प्रदर्शन की कला को प्रस्तुत कर सकेंगे अर्थात् प्रदर्शन, प्रस्तुति की कला के बाद स्वयं एक कला-रूप बन जाता है।

प्रदर्शनी को सँजोने में जानकारी होनी चाहिए। शिक्षक को प्रदर्शनी सजाना सीखना चाहिए। जहाँ-तहाँ से लाकर जैसे-तैसे डाल देना कला-प्रदर्शन नहीं होता; वह दुकान अथवा स्टाल बन सकती है। इसीलिए दुकानें या अन्य प्रदर्शन यथा स्वदेशी-प्रदर्शन वस्तु-प्रदर्शन मात्र होता है, कला-प्रदर्शन नहीं। शाला की प्रदर्शनी में हमें वस्तु भी बतानी है, लेकिन कलात्मक रीति से; अतः प्रदर्शनी के लिए शिक्षक को प्रदर्शनी के सिद्धांत एवं कला को जानना होगा।

प्रदर्शनी में अवकाश मुख्य तत्त्व होता है। जब अवकाश को जबर्दस्ती भर दिया जाता है तो वस्तु का प्रदर्शन नहीं होता। प्रदर्शनी कक्ष में प्रदर्शनीय वस्तु के कद को ध्यान में रखते हुए उसकी लंबाई, चौड़ाई, गहराई तय की जानी चाहिए। वस्तुएँ छोटी हों और तलघर में ही रखनी हों, तब भी कमरे की दीवारों को इस तरह सजाना चाहिए कि तलघर खुला-खुला नजर आए। दीवारों का अवकाश तलघर के अवसर के मेल पर भरना चाहिए। प्रदर्शित वस्तुओं से ही अवकाश के सम्पूर्ण भरने की जरूरत नहीं है, उसमें फूलदान, धूपदान, दीपदान रखने तथा आने-जाने के रास्तों के लिए पर्याप्त जगह रखने के बाद ही सजाना शुरू किया जाए। प्रदर्शनी में रांगोली को भी स्थान दिया जाए। इतनी बात हमेशा ध्यान रहे कि प्रदर्शनीय वस्तुओं को मुख्य तथा विशेष अवकाश मिले। अन्य चीजों को गौण अवकाश दें।

प्रदर्शनी का स्थान निश्चित करते समय प्रकाश के बारे में भी विचार कर लेना चाहिए। जिस-जिस समय प्रदर्शनी बतानी हो उस-उस समय प्रदर्शनी पर कितना प्रकाश पड़ेगा, यह ध्यान में रखकर ही वस्तुएँ वहाँ सजानी चाहिए जो उस प्रकाश में खिल उठें। अथवा कृत्रिम रीति से प्रकाश-अंधकार पर कैसे नियंत्रण किया जाए कि जिससे सोचे मुताबिक निर्धारित समय पर वस्तुओं को बराबर ढंग से दिखाया जा सके।

प्रदर्शनी रचने वाले अपनी अंतःस्फूर्ति से अपनी समझ के अनुरूप कला की आत्मा को व्यक्त करने हेतु स्वतंत्र होने चाहिए। अमुक निश्चित रीति से तथा जड़ नियमों से प्रदर्शनी नहीं रची जा सकती। एक स्थान पर देखे गए प्रदर्शन के अनुरूप दूसरी जगह उसी ढंग से प्रदर्शन जमाने का आग्रह रखने वाला व्यक्ति प्रदर्शन की आत्मा छीन लेता है। जो लोग कलाकृति को समझते हैं और जो सज्ञा के सामान्य नियमों से अनजान नहीं होते, वे सभी लोग ऐसी प्रदर्शनियाँ अवश्य लगा सकते हैं। ❑

बारहवाँ प्रकरण

संग्रहालय

शाला में कलात्मक वातावरण की रचना करने के लिए अमुक सीमा तक संग्रहालयों की आवश्यकता रहती है। जो संग्रहालय बहुमूल्य वस्तुओं को मात्र संगृहीत करने के लिए हैं उनकी अलग तरह की महत्ता है। उनका उपयोग शोध के निमित्त ज्यादा रहता है। उनकी रचना-दृष्टि कला-प्रधान की अपेक्षा उपयोग-प्रधान अधिक होती है। जो विशाल संग्रहालय हमारे देखने में आते हैं वे निसर्ग से एकत्रित किए गए स्मृति के वर्गीकृत समूहों को रखने के स्थल मात्र हैं। वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि का आधार-स्वरूप होता है। कलात्मक दृष्टि के विकास के लिए इसका अभाव चल नहीं सकता। लेकिन वर्गीकरण की वजह से अटका हुआ संग्रह कला की दृष्टि नहीं देता। संग्रहालय मानव-बुद्धि को चकित कर देते हैं; वहाँ रखी हुई सामग्री का विशेष अध्येता उसके माध्यम से ज्ञान अर्जित करता है; लेकिन कला-रसिकता का पोषण वहाँ नहीं होता। उससे कला-सर्जन की प्रेरणा कम मिलती है। इसलिए संग्रहालय के पीछे की आज की दृष्टि कला-शिक्षण की दृष्टि से थोड़ी-बहुत विशाल व विशुद्ध होनी चाहिए।

शाला के साथ रखा हुआ संग्रहालय संग्रहालय न होकर कला-मंदिर बनना चाहिए। अर्थात् प्रकृति में से प्राप्त होने वाली सर्व-समृद्धि जिस तरह प्रकृति में अमुक व्यवस्था से सँजोई हुई होने के कारण प्रकृति को मनोहर व आनंददायी बनाती है, उसी तरह इस समृद्धि के बीच आकर घूमने वाले बालकों के लिए भी वह आनंददायी और मनोहर होनी चाहिए। अतः संग्रहणीय वस्तुओं के चयन के साथ उसकी रचना का विवेक अत्यावश्यक है।

इस विवेक से पहले संग्रह-योग्य वस्तु के चयन का विवेक भी इतना ही आवश्यक है। जो भी मिल जाए, उसी को उठा लाना न संग्रहालय है, न कला-मंदिर। जो वस्तुएँ बालकों की कलात्मक भूख का पोषण करें वे वस्तुएँ इस संग्रहालय में हो सकती हैं। कला के मुख्य अंग चित्र, संगीत, स्थापत्य, शिल्प और नृत्य हैं। इन अंगों के कई उपांग हैं। इन उपांगों के विकास में अगणित वस्तुओं को

इकट्ठा करके रख देने से संग्रहालय या कला-मंदिर नहीं बनता। प्रेरणात्मक वातावरण के लिए इस संग्रहालय में मात्र बाजारू और नकली माल को भी स्थान नहीं है। यंत्र द्वारा निर्मित अर्थात् जिसमें कलाकार की मूल आत्मा नहीं है, ऐसा संग्रह निष्प्राण सिद्ध होगा। मूलभूत कलाओं की सुंदर कृतियाँ संग्रहालय में शोभा देती हैं अर्थात् संग्रहकर्ता व्यक्ति का कला-दृष्टि बिंब उच्च होना चाहिए। अतः सौ नकली चीजें इकट्ठी करने के बजाय एक असली व उत्तम कारीगरी का नमूना काफी है। जिस तरह मेले में बहुत सारी चीजें देख लेने पर बालकों की कला-दृष्टि कुंद हो जाती है और खरीदने की अर्थात् कब्जा करने की दृष्टि प्रधान हो जाती है, उसी तरह संग्रहालयों में रखी ढेर सारी चीजें सिर्फ कला-वृत्ति की प्रेरणा के बजाय कला-सृष्टि की भोगेच्छा को जगाती है। मेले में या दुकान में एकत्रित की गई कलाकृतियाँ भी जिस तरह मन को एकत्रित करने के बजाय विकीर्ण करती हैं, उसी तरह संग्रहालयों में भी होता है। यह देखूँ या वह देखूँ, मन इसी में उलझा रहता है और हजारों चीजों पर मात्र नजर डालने से वह थक जाता है। हजारों वस्तुओं का ज्ञान एक साथ टकराने से दिमाग उसके भार के भय से उकता जाता है और मात्र संग्रहालय देखने का संतोष मिलता है। पर वह बहुत कम ज्ञान और लगभग नहीं जैसी कला की दृष्टि दिखाता है। शाला का संग्रह स्थान इसीलिए थोड़ी-सी ही उत्तमोत्तम मूलभूत कलाओं की कृतियों का अवकाश देता है और उतना ही अवकाश कला का सच्चा वातावरण रूप बनता है।

संग्रहालय कला-मंदिर होने चाहिए। इसका यह अर्थ है कि इसे सजाने में कलात्मकता की दृष्टि चाहिए। इस सज्जा में वस्तुओं के कद, रंग, रूप आदि का ध्यान रहना चाहिए। अवकाश को किस तरह भरा जाए, इसका भी पूरा ध्यान कला-मंदिर के रचनाकार को रखना चाहिए। अवकाश जैसे सौंदर्य है वैसे ही अमुक रीति से उसे भरा जाए तो वह, सौंदर्य बन जाता है। कला-मंदिर की रचना करने में वस्तुओं की अपेक्षा अवकाश को भरना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कला-मंदिर की रचना करने वाले को भवन की लंबाई, चौड़ाई, मोटाई ध्यान में रखते हुए उसमें रखी जाने वाली कलाकृतियों के कद पर विचार करना चाहिए। इसके अलावा अवकाश को किस प्रकार प्रकाशित किया जाए अर्थात् रंगीन बनाया जाए यह बात भी कला-मंदिर के रचनाकार को ध्यान होनी चाहिए। बड़ा अवकाश अमुक रंग से छोटा बनता है, जबकि छोटा अवकाश अमुक रंग से बड़ा बन जाता है। रंग की रेखाओं से अवकाश छोटा, बड़ा और सुंदर बनता है।

कला-मंदिर का भवन एक बार अमुक तरह का बन जाने के बाद अथवा हमें मिलने के बाद, उसमें फेरफार कर पाना असंभव होता है तब उस भवन की दीवारें और छत, रंग और चाँदनी से कैसे शोभायमान की जाएँ, उस पर ही हमें विचार करना शेष रहता है। अतएव अवकाश के रंग कैसे चुनें, इसका शिक्षक को अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

छत को कपड़ों की चाँदनी से या नक्काशीदार लकड़ी के पेनलों से सजाना चाहिए। प्राचीन काल के दीवानखाने लकड़ी की खुदाई की हुई छतों से सजे हुए देखने को मिलते हैं। गुंबदों में चित्रित किए गए चित्र सुशोभित छत का काम करते हैं। कपड़े की या ऐसी छतों में कपड़े पर चित्रांकन की जरूरत पड़ती है। छत जमीन से कितनी ऊँची है। उस पर की चाँदनी पर चित्रों का छोटा या बड़ा होना अवलंबित है। ऊँची छत बड़े चित्रों से शोभायमान होती है, जबकि नीची छत में छोटे चित्र अच्छे लगते हैं। दीवार के ऊपरी भाग में फ्रेस्को (दीवार पर चित्रित चित्र) या कि लटकाने वाले चित्रों की शोभा मेल खाती है।

हमारे यहाँ फ्रेस्को का काम ज्यादा विकसित नहीं हो पाया। उसे शाला के संग्रहालयों में स्थान देना चाहिए। फ्रेस्को लंबे समय तक टिकने वाले भित्ति चित्र हैं। फ्रेस्को के ही साथ अथवा जहाँ फ्रेस्को न हो वहाँ दीवारों के ऊपरी भाग में छवि चित्र टाँगे जाने चाहिए। संग्रहालय बच्चों के लिए हो तब भी जिस तरह छवि चित्र नीचे हों, उसी तरह ऊपर भी होने चाहिए। दूर से देखे जाने वाले छवि चित्र हमेशा बड़े होने चाहिए और उनके भीतर का विवरण भी आकार में बड़ा हो। ऐसे ही चित्र चुनने चाहिए। ऊपर टाँगे जाने वाले चित्रों को दीवार के समानांतर टाँगना चाहिए, साथ ही वे दीवार के साथ कोण बनाएँ, इस तरह टाँगी जाएँ।

कला-मंदिर की निचली दीवार पर दीवार के समानांतर सुंदर चित्रों वाली छवियाँ अथवा फूल या कि पक्षियों के पेनल लगाने चाहिए। ये छवियाँ और पेनल उसी भाग में आएँ जो खाली हो। मंदिर के कोनों में कारीगरी वाले बरतन उतरते क्रम में रखे जाएँ तो बहुत शोभा देंगे। किसी न किसी तरह का कोने का शृंगार कोनों के लिए चाहिए ही। मंदिर के मध्य भाग को कैसे सजाया जाए, इसका निर्णय मंदिर की लंबाई, चौड़ाई और आजबाजू में जो सजावट की गई है, उस पर आधारित है। बहुत लंबे, चौड़े और ऊँचे कमरे में किसी भाँति के मंडप या

स्तूपाकार अधिक शोभा देंगे। छोटे मंदिरों में नक्काशीदार बाजोट (तख्ते) और नितांत छोटे मंदिर में स्वस्तिक की रांगोली मंदिर की भूमिका के मध्य भाग की शोभा बढ़ाएगी।

संग्रहालय अथवा कला-मंदिर के लिए इकट्ठी की गई वस्तुओं को उनके अनुरूप बनायी गई अलमारियों अथवा छज्जों अथवा आसनों पर सजाना चाहिए। इसके अलावा भी मंदिर के अलग-अलग गवाक्षों और कोनों को इन वस्तुओं के द्वारा सजाना चाहिए।

कला-मंदिर के तलघर को अत्यधिक सामग्री से नहीं भर देना चाहिए। लेकिन भीतर चलने-फिरने के मार्ग रख कर अलग-अलग प्रसंगों में रांगोली बना कर उसे सजाना चाहिए। स्थाई रूप से सजाई हुई अन्य सामग्री के चारों ओर अगर रांगोली की जाती है तो वह चेतना पैदा करती है। रांगोली स्थाई नहीं होनी चाहिए।

कला-संग्रहों को कला-उत्सवों का स्थानक बना देना चाहिए। कभी-कभी वहाँ दीपमाला करनी चाहिए, चारों तरफ दीपक विविध आकार बनाते हों इस तरह सजाए जाएँ। दीपक के तेल तथा प्रकाश के रंगों में विविधता लाने का प्रयत्न किया जाए। कभी-कभार मात्र फलों से तो कभी-कभी साग-भाजी से; कभी मात्र पत्तों से तो कभी अलग-अलग अनाजों के दानों से संग्रहालय को सजाया जा सकता है। यों अलग-अलग तरह से सजा-धजा कर कला-मंदिर को जीवंत रखा जा सकता है।

बालक इन संग्रहालयों में रुचि लेने लगें, इसके लिए उन्हें बार-बार वहाँ लाना चाहिए। बालकों को लाने वाला शिक्षक अलग-अलग समय में संगृहीत वस्तुओं के बारे में बच्चों से बातचीत करे, उन्हें बताये। बालक स्वयं संग्रह-योग्य वस्तुएँ एकत्रित करें, इसके लिए संग्रहालयों को बालकों के प्रवास आयोजित करने चाहिए तथा उनके द्वारा लाई गई चीजों को संग्रहालय में स्थान देना चाहिए। संग्रह एकत्रित करने के काम में जब-तब बालकों को मदद भी दी जानी चाहिए। वस्तुतः बाल-शिक्षण में संग्रहालयों को हम उपयोगी बना सकते हैं। ❑